

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३८ अंक-१७७, वर्ष-१६, जून-२०१२

वीर संवत २४९२, अषाढ वद २, सोमवार,  
दि.४-७-१९६६, योगसार गाथा - ६९ पर  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - २५

‘योगीन्द्रदेव’ दिगम्बर मुनि भरतक्षेत्र में हजारों साल पहले हुए, उन्होंने यह ‘योगसार’ बनाया है। योगसार मतलब यह आत्मा का शुद्ध स्वभाव पवित्र अनादि है, उसमें एकाकार होना वह धर्म का सार है। समझ में आया? आत्मा.. देखो! ६९ में ऐसा आता है। ‘जीव सदा अकेला है।’

**इक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु छुंजइ इक्कु।**

**णरयहं जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहं इक्कु।।६९।।**

देखो! क्या कहते हैं? ‘जीव अकेला जन्मता है और अकेला मरता है।’ अकेला जीव मरता है, देह छूटता है तो खुदको अकेले को ही मरना पड़ता है। कोई स्वजन, कुटुम्ब साथ नहीं आ सकते। और अकेला जन्म लेता है। जन्म के वक्त भी कोई साथ नहीं होता। पूर्व के किसी कुटुम्बी ने इसके खातिर पाप किये हो तो क्या साथ में आता है कोई? नरक में जन्म ले, पशुमें जन्म ले। स्वयं अकेला जन्म लेता है और अकेला मरता है, कोई साथ में नहीं होता।

‘इक्क जिय णरयहं जाइ’ जैसे भाव किये हो वैसे भाव सहित नरक में जाता है। अकेला नरक में जाता है, कोई कुटुम्ब परीवार साथ नहीं आता। आपके लिये मैंने पाप किये अब मेरे साथ चलो। और ‘इक्क णिव्वाणहं’ ‘और निर्वाण को भी वह अकेला ही प्राप्त करता है।’ अपना शुद्ध स्वरूप, परमानंद परम स्वरूप, इसकी एकत्वबुद्धि दृष्टि एकांत निर्मल करके अपने स्वभाव में स्थिर होकर आत्मा अपने (पुरुषार्थ से) अकेला मोक्ष जाता है। कहीये, समझ में आया ? कोई गुरु भी साथ नहीं आते, केवली भी साथ नहीं आते, शास्त्र भी साथ नहीं आते, संघ साथ नहीं आता। अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, इसे पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके निज स्वरूप में एकत्वसंधानपूर्वक अपनी आत्मा ही स्वयं को निर्वाण प्राप्त कराता है, इसमें किसी की मदद-सहाय नहीं होती। कहो, समझ में आया ?

‘यहाँ एकत्व भावना का विचार किया गया है’ इस श्लोक में एकत्वभावना - मैं अकेला हूँ (इस पर विचार किया है)। ‘इस जीव को अकेला ही जन्म लेना पड़ता है और अकेला



ही मरना पड़ता है, हरएक जन्म में माता, पिता, भाई, बंधु इत्यादि मित्र व अन्य चेतन-अचेतन पदार्थों का संयोग होता रहा और छूट गया।' अनेक जन्म में कुटुम्ब का संयोग हुआ और छूटा, स्वयं तो अकेला ही रहा, कोई साथ में नहीं आया। ऐसा जानकर अपने स्वरूप का अंतर साधन करना ऐसा कहते हैं। 'योगसार' है न? समझ में आया? 'इस जीव को अकेले ही सब को छोड़कर दूसरी गति में जाना पड़ा। एक पाप-पुण्य कर्म ही साथ रहा।' जैसे पुण्य और पाप किये होंगे वे साथ आते हैं, और तो कुछ साथ नहीं आता।

'कर्मा का बंध यह जीव शुभ और अशुभ भावों से जैसा करता है वैसा ही उसका फल यह जीव अकेला ही भोगता है।' समझ में आया? शास्त्र में कथा में दृष्टांत आता है कि, छोटे भाई के लिये बड़े भाई ने बहुत पाप किये थे। छोटा भाई रोगी था। बड़ा भाई उसे मांस, अंडे लाकर खिलाता था। छोटे को पता नहीं था कि यह मांस है। बाद में बड़ा भाई मरकर नरक में गया और छोटा मरकर जम, परमाधामी हुआ, दोनों सगे भाई। जिसके लिये पाप किये थे वह मरकर परमाधामी हुआ। पाप करनेवाला नारकी हुआ। (परमाधामी उसे) मारता था। अरे! भाई! लेकिन मैंने तो तेरे लिये किया था न। 'मेरे लिये करने का किसने कहा था?' 'तेरे लिये मैंने पाप किये थे और तेरे लिये कुपथ्य अंडे लाकर खिलाये, मांस ला दिया, मछली का मांस दिया। यह तो हलवा है कहकर मैंने खिलाया था। (तब परमाधामी कहता है), 'मुझे तो पता नहीं था, तुने ऐसा क्यों किया? मैं तो परमाधामी हुआ हूँ, इसलिये मैं तो मारूँगा।' समझ में आया? इसतरह जो भी पाप या पुण्य जैसे शुभाशुभ(भाव) किये हैं उसे अकेले ही भोगने पड़ते हैं।

कुटुम्ब के लिये करता है तो कहते हैं,

'नरकायु का बंध पड़े तो इस जीव को अकेले ही नरक में जाकर दुःख सहना पड़ता है। कोई कुटुम्बीजन साथ नहीं आ सकता।' आ सकता है कोई? और 'अपने साथ किसी मित्र, स्त्री, पुत्र को नहीं ले जा सकता।' जैसे चलो भाई! चलिये आप मेरे बहुत करीबी मित्र थे। साथ तो चलिये, साथ तो चलिये। हमलोग पचास-साठ-साठ साल तक साथ रहे, स्त्री-पत्नी साठ-सत्तर साल तक साथ रहते हैं, लीजिये! चलो मैं चलता हूँ आप भी साथ चलिये। 'प्रत्येक जीव की सत्ता भिन्न-भिन्न है।' किसी की सत्ता किसी के साथ (मिली) नहीं है। जिसने जैसा भाव किया उसे वह (भोगता) है।

'कर्माका बंध भिन्न है, भावों का पलटना भिन्न है,...' सभी जीवों का कर्मबंधन भिन्न और भावों का (पलटना) भी भिन्न और 'साता व असाता का भोगना भी भिन्न है।' ठीक है, सब का भिन्न? पत्नी पचास-साठ-सत्तर साल रहे तो भी (भिन्न)?

मुमुक्षु :- सब इकट्ठे होकर भोगते हैं?

उत्तर :- सब इकट्ठे भोगते हैं कि नहीं? धूड़ में भी नहीं भोगते। सब अपने-अपने राग को भोगते हैं। भिन्न-भिन्न राग करके भोगते हैं। पैसे को कहाँ भोगते हैं? पैसा कोई खाता है क्या? आहा..! देखो!

'चार भाई हो तो भी एक स्थिति में रह नहीं सकते।' चार भाई का दृष्टांत दिया है। है? है उसमें? 'चार भाई हो तो भी एक स्थिति में रह नहीं सकते। एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगते हैं।' देखो! सांसारिक सुख भोगता है मतलब दुःख (भोगता है)। 'एक निर्धन होकर कष्टपूर्वक जीवननिर्वाह चलाता है, एक विद्वान होकर देशप्रसिद्ध हो जाता है।' विद्वान होता है तो देश में इज्जत होती है। इसमें क्या? 'एक मूर्ख रहकर सब का अनादर

सहता है।' चार भाई के चार (प्रकार)। 'श्रेणिक', 'अभयकुमार' एक साथ आहार लेते थे। बहुत प्रीति थी श्रेणिक राजा को अभयकुमार पर बहुत प्रीति थी और वे तो दिवान का काम करते थे व बहुत बुद्धिमान थे। 'अभयकुमार' की बुद्धि ऐसा बनिये लोग लिखते हैं कि नहीं? वहीखाते में लिखते हैं।

मुमुक्षु :- ग्राहक को सँभालना आता है।

उत्तर :- सँभालना तो क्या आता है? वह बुद्धिवाला था। तो यह कहता है, हमें बुद्धि हजो। किसकी बुद्धि? आपको ऐसे मिल जाती होगी?

कहते हैं, वह 'अभयकुमार' पर इतनी प्रीति(थी) 'अभयकुमार' स्वर्ग में गये। 'श्रेणिकराजा' नरक में गये। समझ में आया? एक साथ खाना खाते थे। एक नरक में गया एक स्वर्ग में गया। कोई मोक्ष में गया। समझ में आया? अन्य राजकुमार जो साथ में थे वे मोक्ष में गये। जैसी अपनी पर्याय करता है वैसा ही उसका फल पाता है। एक साथ आहार करनेवाले... शास्त्रपाठ देखा तो ऐसा है। एकसाथ खानेवाले परन्तु शास्त्रपाठ देख। एक नरक में जाते हैं और एक मोक्ष में जाते हैं, ऐसा देखो! क्या कहते हैं? देखो! कहते हैं, तेरे परिणाम तू सुधार और अपना आत्मा शुद्ध आनंदकंद है ऐसी दृष्टि करके आत्मा का ध्यान, अनुभव कर। वही मोक्ष का उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। समझ में आया?

'जब रोग आता है तब इस जीव को इसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है। साथ बैठनेवाला कोई इसमें से हिस्सा बाट नहीं सकता।' पास में बैठे हो न! हाथ लगाये हाथ। रोग का कुछ हिस्सा ले सके कि नहीं? कौन ले? समझ में आया? 'संसार के कार्यों में भी इस जीव को अकेले ही आचरण करना पड़ता है।' संसार में भी अकेला ही वर्तता है न? 'सभी-संसारी जीव अपने-अपने स्वार्थ के सगे हैं।

स्वार्थ नहीं सधता है तो स्त्री, पुत्र, मित्र, चाकर हरकोई हम से लगाव छोड़ देता है।' स्वार्थ न हो तो छोड़ देता है, नहीं इसमें कुछ नहीं है। कमाते थे तबतक ठीक है। अब कमाते नहीं है। ठीक है कि नहीं?

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- सब का होता तो ऐसा ही है। आपके एक को नहीं छोड़ते तो क्या हो गया? अंदर में तो उसको भी ऐसा ही होता है। कहीये, समझ में आया? आहाहा..!

'दूसरे के असत्य मोह में वश होकर पापकार्य नहीं करना चाहिये... नाव में बैठे हुए प्रवासियों की तरह सर्व संयोगों को छूटने योग्य अस्थिर जानने चाहिये।' एक नाव में बैठे हो सारे पथिक अपने-अपने घर चले जाते हैं, अपने गाँव में चले जाते हैं। साथ बैठनेवाले सब एक ही गाँव जाते हैं, ऐसा है! नाव में बैठनेवालों में एक आदमी एक गाँव जाता है, दूसरा दूसरे गाँव जाता है, तीसरा तीसरे गाँव में। वैसे एक घर में पचीस लोग आये। एक जाता है नरक में, एक जाता है स्वर्ग में, एक जाता है मोक्ष में। जैसा अपना आत्मा का पुरुषार्थ करेगा वैसा फल मिलता है। किसीका साथ-सहारा नहीं है। समझ में आया?

'उसमें राग, द्वेष, मोह न करके समभाव में रहना चाहिये।' ऐसा कहते हैं। भगवानआत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें दया, दान, आदि विकल्प, भक्ति, यात्रा का (भाव) आये वे सब पुण्यभाव हैं, वे धर्मभाव नहीं हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना ये सब पाप हैं। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, यात्रा पुण्य हैं। दोनों रागसे खुद का आत्मा भिन्न है ऐसा जानकर अपने आत्मा की श्रद्धा, ध्यान करना ही स्वयं शुद्धि की वृद्धि का कारण है, वही मोक्ष का कारण है। कहीये, समझ में आया?

'यदि जीव रत्नत्रय से धर्म की सम्यक्

प्रकार से आराधना करे तो स्वयं ही अकेला मोक्ष पाता है।' संसार के सभी कुटुम्बी नरक में जाये, चार गति में जाये, भले ही जाओ। आत्मा-अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति (है)। समझ में आया? अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य आनंदकंद है। इसप्रकार उसकी रुचि, दृष्टि करके, आत्मा का ज्ञान करके आत्मा में ही लीन होना वह रत्नत्रय एक ही मोक्ष का कारण है। ये रत्नत्रय अपने से होते हैं, किसी दूसरे से नहीं होते। अपने आत्मा के आश्रय से होते हैं। इसमें किसी की सहाय नहीं होती। भगवान, देव-गुरु-शास्त्र भी इसमें सहायभूत नहीं होते। समझ में आया?

एक आदमी भगवान के मंदिर में माला गिनता था। 'सणोसरावाले' रहते थे न? 'उमराला' में थे न? विसाश्रीमाली। मंदिर में माला गिनते थे, वहाँ मर गये। इसलिये ऐसा कि, आहाहा..! मंदिर में मर गये। मंदिर में (मर गये) तो क्या हुआ? माला गिनना तो शुभभाव है, इससे पुण्य है, समझ में आया? वह कोई धर्म-बर्म है नहीं। लोग कहते हैं, ओहोहो..! बहुत भाग्यशाली! उपर से नश्वर देह को उतारा, वहाँ भगवान के मुख्यमंदिर में मर गये। माला गिनते थे वहाँ देह छूट गयी। 'सणोसरा' के थे न? विसाश्रीमाली देरावासी। वहाँ रहते थे और मकान यहाँ पर था। हमारे 'उमराला' में मकान बनाये थे। यहाँ आते थे। उनके लेकर सणोसरा गये थे। उपर से मुरदे को उतारा तो लोग कहे, ओहोहो..! सिद्धगिरि में रखा था। सिद्धगिरि में (मरे परन्तु) नरक में जाये, इसमें क्या हुआ? सिद्धगिरि में मरे तो भी नरक में जाये। साधारण शुभभाव हो तो भी पुण्य बांधे, इसमें कोई कल्याण हो जाये। जन्म-मरण का अंत आये ऐसा नहीं है। भगवान के सामने बैठा हो तो भी जैसा राग करे ऐसा बंध पड़ता है। समझ में आया? पुण्य-पाप के भाव से मेरी चीज भिन्न है। मेरी चीज ही भिन्न है ऐसी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान करे तो उसे रत्नत्रय प्रगट होने पर मुक्ति

होती है, अन्य किसी उपाय से मुक्ति है नहीं।

'प्रत्येक जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अन्य जीव से भिन्न है।' ठीक है? क्या कहा? प्रत्येक जीव-सब जीव उसका द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न और भाव भिन्न। 'प्रत्येक जीव परम शुद्ध है।' लीजिये। ठीक भावार्थ किया है, किसी दूसरे में भावार्थ किया होगा, ठीक है, उसमें उतारा है। ७०में भावार्थ किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अर्थ किया है। प्रत्येक जीव का परमधर्म शुद्ध है। 'प्रत्येक जीव परम शुद्ध है, न तो इन्से आठ कर्मोंका संयोग है, न शरीर का संयोग है, न तो विभाव भावोंका संयोग है।' पुण्य-पाप के, दया, दान के भाव भी संयोगी चीज है, आत्मा की नहीं। वे सारे विभाव, परभाव है। इसतरह केवल अपने स्वभाव की दृष्टि करके विचार करना और मैं 'सिद्ध समान शुद्ध, निरंजन और निर्विकार हूँ।' इसतरह खुद को अकेला जानकर 'अपने स्वभाव में मग्न रहना चाहिये।' श्रद्धा, ज्ञान करके स्थिर रहना ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा कोई धर्ममार्ग है नहीं।

आखिर में भी कहा है, देखो! 'बृहत सामायिक' पाठ है न? बड़ी सामायिक का पाठ है। 'तू मूढ़ बनकर ऐसी मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हूँ, स्वरूपवान, मजबूत शरीरवाला हूँ, दूबला हूँ, मोटा हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुंसक हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ।' ऐसा-ऐसा मूढ़ होकर मानता है। आत्मा ऐसा है ही नहीं। 'तू अपने आत्मा को जानता नहीं है कि, तू तो केवल ज्ञानस्वभावी...' (हो)। भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभाव, चैतन्यमूर्ति, निर्मलानंद 'सर्व दुःखरहित अविनाशी द्रव्य है।' नाश न हो वैसा पदार्थ है। ऐसे पदार्थ से अंतरदृष्टि करके रत्नत्रय प्रकट करने का कारण अपना स्वतंत्र है, इसमें किसी की मदद नहीं मिलती।



श्री परमागमसार वचनामृत-१४८ पर पूज्य  
भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं.५२  
(दि.२६-१२-१९८२, भावनगर)

१४८ 'जिज्ञासु को प्रथम ऐसा निर्णय होता है कि मैं निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करने योग्य हूँ। वहाँ शंका के लिये अवकाश नहीं। आयुबन्ध हो गया हो तो ! ऐसी शंका के लिये स्थान नहीं होता।' क्या कहते हैं? जो जिज्ञासु जीव अपना हित करने के लिये तत्पर हुआ है, अपना कल्याण करने के लिये कृतनिश्चयी है, दृढ़ निश्चयी है, उसे अपनी योग्यता के विषयक अपने भवी-अभवीपने की शंका नहीं होती। मोक्ष पाने के लायक कौन है? जो भवी है वह मोक्ष पाने के लायक है। अभवी है वह मोक्ष प्राप्ति के लायक नहीं है। हालाँकि ऐसे अनन्त भवी हैं जो अभवी से भी मुकालबे में ठीक वैसे ही हैं। जैसे अभवी का मोक्ष नहीं होनेवाला है वैसे अनन्त भवी का मोक्ष होनेवाला नहीं है अथवा होता नहीं है और होनेवाला भी नहीं है। ऐसी जगत की परिस्थिति केवलज्ञान में दिखी है वह प्रसिद्ध है। जैनागम में ऐसी परिस्थिति प्रसिद्ध है।

अब अनन्त जीवोंमें, जीवोंमें अनन्त जीवराशि है। बड़ा समूह है, इसमें सबको अपने सुख और अपने मतलब से संबंध है। इसके अलावा किसीको किसी से संबंध नहीं है। इसमें जो जीव अपना विचार करता है उसे अपने कल्याण की अत्यंत तीव्र भावना और तीव्र लगनी है, उसे शंका नहीं उठती। यह इसकी योग्यता का एक लक्षण है, चिह्न है कि, उसे शंका न उठे ऐसी योग्यता का यह लक्षण अथवा चिह्न है।

जो जीव पात्र है, लायक है और स्वरूप समझने का जिज्ञासु है, उसे मैं मोक्ष पाऊँगा या

नहीं? मेरे में मोक्ष प्राप्त करने की पात्रता है कि नहीं? ऐसी कुशंका और अपने बारेमें, अपने में उत्पन्न नहीं होती। यह ज्ञानियों का कहा हुआ अनुभवसिद्ध वचन है। क्योंकि वे भी एक काल में जिज्ञासु थे न? फिर मोक्षमार्ग में आये तब तो कोई प्रश्न नहीं है। उन्हें तो मोक्ष हस्तकमलवत् या हथेली में दिखता है। परन्तु इसके पहले भी वे जिज्ञासु थे। मोक्षमार्ग में प्रवेश करने से पहले वे जिज्ञासु थे। वे अपनी जिज्ञासु दशा की स्मृतिपूर्वक बात करते हैं कि मेरी जिज्ञासु दशामें मैंने ऐसा अनुभव किया है कि कहीं भी मुझे मेरे मोक्ष के संबंध में कभी मुझे शंका नहीं हुई है कि मैं मोक्षप्राप्ति के लायक हूँ या नहीं? भवी हूँगा या नहीं? अभवी हूँगा तो? ऐसी शंका उन्हें कभी नहीं उठती।

मुमुक्षु :- व्यवहारमें शंका नहीं उठती है, जैसे दुकान का उद्घाटन करते वक्त मैं कमाऊँगा या नहीं कमाऊँगा ऐसी चिंता नहीं होती।

पूज्य भाईश्री :- वहाँ तो दुकान लगाता है न, वहाँ ऐसे देखता है कि यह रांधनपूरी बाजार में, आपका व्यवसाय हालाँकि कपड़े का नहीं है फिर भी दोनों तरफ ५०-५०, १००-१०० दुकानें हैं, हमारी नई दुकान जो है वह १०० के बाद हुई है। दिवाला निकलेगा तो इसका विकल्प तो नहीं करता परन्तु १००से आगे मैं जाऊँगा, इतना जोर से वह प्रारम्भ करता है। जब वह दुकान का प्रारम्भ करता है तो इतने उत्साहपूर्वक करता है।

इसतरह मोक्षमार्ग में प्रवेश बहुत उल्लासितभाव

से होता है। मोक्षमार्ग में प्रवेश बहुत जोर से होता है, जो कि सारी दुनिया से उपेक्षा कर जाता है 'जगत इष्ट नहीं आत्मथी' यह आत्मा से सारा जगत इष्ट नहीं है। जगत में कोई पदार्थ मेरे लिए इष्ट नहीं है। ऐसे सारे जगत से उपेक्षित होकर जिसका जोर स्वरूप में आता है। वह स्वरूप सन्मुख होता है। यानी कि इन सबसे आगे निकलने की ही बात है। सारे जगत में मैं प्रथम। दूसरे प्राप्ति करे या न करे मैं तो प्राप्ति करूँगा ही। उस बात में कभी उसे शंका नहीं उठती। यह शुभारम्भ करनेवाले का लक्षण है।

किसी भी लाइन में शुरूआत करनेवाले का लक्षण होता है कि उसे कभी शंका नहीं होती। जिसको शंका होती है वह कार्य का प्रारम्भ नहीं कर सकता। यह बात निश्चित है। अगर शंका रहती हो तो उसकी शुरूआत सही नहीं होगी ऐसा कहते हैं। 'ज्यां शंका त्यां गणसंताप ज्ञान तहाँ शंका नहीं स्थाप।' 'श्रीमद्जी' का पद है। शंका है वहाँ भय है और संताप है। जहाँ ज्ञान स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसमें फिर शंका कैसी? ज्ञान तो प्रतिसमय हो ही रहा है।

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा होने से सहजरूपसे ज्ञान का होना मेरे आत्मा में हो ही रहा है। इसलिये मैं ज्ञानस्वभावी हूँ या नहीं? इस प्रश्न की शंका करने की गुंजाईश कहाँ रहती है? ऐसी शंका करने का कोई अवकाश नहीं है। उस जीव को मेरा मोक्ष होगा कि नहीं? ऐसी आशंका नहीं उठती। शंका भी नहीं उठती और आशंका भी नहीं उठती। कुछ नहीं।

'गुरुदेवश्री' तो शुरू-शुरू के प्रवचनों में ऐसा कहते थे। बहुत शुरूआती प्रवचन पढ़े थे। 'सोनगढ़' में प्रवेश के बाद बहुत पुराने 'आत्मधर्म' मँगवाकर प्रवचन पढ़े थे। उसमें ये बातें बहुत आती थी। मुमुक्षुजीव को, जिज्ञासुजीव को ऐसा स्वकार्य करने का उत्साह होता है, ऐसा उमंग होता है, स्वकार्य

करने का इतना रस होता है। ये दुकान का प्रारम्भ करनेवाले को ऐसा ही होता है। उनको स्वप्न भी ऐसे ही आते हैं। उसको स्वप्न भी चीज के दाम संबंधित आते हैं। उसको दुकान संबंधित स्वप्न ही आते हैं। सबकुछ करते हुए खाते, पीते, चलते-फिरते (वही चलता है)। यह अनुभवसिद्ध है या नहीं? उसीके विचार आते रहेंगे। जिसका जो ध्येय है और जिस ध्येय तक पहुँचने की लगन है उसे फिर परिणाम में और क्या चलेगा? जो प्राप्त करने की रुचि हो उसीका चिंतवन, उसीका मंथन, उसीका मनन, उसीके विचार, उसीका घोलन वही चलता रहता है। दूसरा चलेगा भी कैसे? इसतरह जिसको अपने निज कार्य का उत्साह है, उमंग है, रस है उसे परिणाम में और कुछ भी नहीं चलता, धारावहीरूप से यही चलता है।

तब 'गुरुदेवश्री' उन दिनों प्रवचन में एक इतनी बात करते थे कि ऐसे जिज्ञासु जीवको, मुमुक्षु जीव को मोक्ष की भनक (ठौस प्रतीति) भीतर से आती है। ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे। काठियावाडी घरेलू भाषा का प्रयोग। ऐसे जीवों को अंतर से मोक्ष की भनक आती है। सामने से भनक (आती है)। भनक आती है इसका मतलब कि सामने से आती है। ऐसे विचार उसको नहीं करने पड़ते कि मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा ऐसे-ऐसे। ऐसा कहते हैं न कि भाई! कुछ आवाज आयी। देखे तो सही किसकी आवाज है? हमारा दरवाजा खटखटाने की आवाज आयी। देखने जाये तो दरवाजा यों का यों बंद पड़ा हो। फिर कहते हैं कि दरवाजा तो बंद है। फिर कहते हैं कि भनक आयी। क्या आया? सामने से भनक आयी। इसतरह सामने से मोक्ष की भनक आती है। ऐसा मुमुक्षु का लक्षण लिया है इसका अर्थ ऐसा होता है कि अगर तुझे सच्ची मुमुक्षुता जागृत हुई है तो इसमें भीतर से ऐसी कोई आवाज आती है? या फिर तुझे शंका उठती है? मोक्ष होगा या



नहीं ऐसी तुझे शंका होती है? या फिर मेरा मोक्ष अवश्य होगा ही ऐसी अंतर से ठीस प्रतीति तुझे आती है? दोमें से तुझे क्या होता है? इसपर से तेरी वर्तमान योग्यता का लक्षण व ज्ञान नक्की होते हैं।

वह बात यहाँ ली है कि जीव को प्रथम ऐसा निर्णय होता है, शुरुआत से ही ऐसा निर्णय होता है कि मैं मोक्ष पाने के लायक ही हूँ। अवश्य अल्पकाल में अब मैं इस संसार से छूट जाऊँगा ऐसा अंतर से निश्चितरूप से... निर्णय शब्द लिया है न? निश्चितरूप से ऐसा भासित होता है। वहाँ उसे शंका नहीं उठती। शंका की कोई गुंजाईश नहीं है कि मेरी आयु का बंध हो चूका होगा तो? हालाँकि आयु तो एक भव की बंधती है, कोई अनंतभव की आयु एकसाथ बंध नहीं जाती। इसलिये ऐसी 'शंका के लिये स्थान नहीं होता।'

अभी तो इस काल में, इस क्षेत्र में जन्मे हुए को सीधा यहाँ से मोक्ष इस भव में नहीं होता। इसलिये यहाँ जन्म लेनेवाले को मुनिदशा तक की स्थिति यहाँ पुरुषार्थ में बढ़ती है। ऐसी ही योग्यता लेकर यहाँ आते हैं। भीतर में शक्ति अनन्त है। शक्ति नहीं है सो बात नहीं। परन्तु यहाँ तो दूसरी बात करनी है कि, कोई जीव चरमशरीरी हो, जिसका आखिर का भव हो, आखिर वाँ शरीर हो और उसी भव में उनका निर्वाण होकर सिद्धालय में मोक्षगमन करने तक की उनकी आखरी परिस्थिति हो उस भव में आयु छूटने के समय केवलज्ञान चाहे कितना भी पहले हुआ हो परन्तु आयु छूटे तब, आखिर में चार अघाति छूटे तब उनका सिद्धालय में जाना होता है। यानी कि मोक्ष भले ही उन्हें देर से होगा किन्तु उस भव में मोक्ष संबंधित निःशंकता असाधारण होती है। इसमें फिर मैं मोक्ष में जाऊँगा कि नहीं जाऊँगा? यह भव या फिर दूसरा भव

होगा? ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता।

'ऋषभदेव' भगवान के पुत्र हैं न? 'भरत' चक्रवर्ती और 'बाहुबली' दोनों चरमशरीरी थे। उन दोनों के बीच तकरार हुई, युद्ध हुआ। कषाय कितना तीव्र हुआ होगा? हालाँकि दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो हैं ही।

मुमुक्षु :- उसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं।

पूज्य भाईश्री :- ऐसा भी नहीं है कि उस भव में नया सम्यक्त्व उत्पन्न होनेवाला है और फिर मोक्ष जानेवाले हैं सो बात नहीं है। मोक्षमार्ग में तो पहले से है ही। और लड़ाई भी इतनी बड़ी होती है कि, दोनों एक-दूसरे की जान लेने तक के परिणाम में आ जाते हैं। मार डालूँ। यह चक्र छूटते ही उसका शिरच्छेद हो जायेगा, और कुछ नहीं। दूसरी तरफ बाहुबली का बाहुबल इतना था कि किसी के पर भी एक मुक्के का प्रहार हो और वह जिंदा बच जाये यह नामुमकिन। उनका बाहुबल इतना था। कि एक प्रहार होते ही सामनेवाले को जिंदा रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। सीधा पूरा का पूरा जमीन में ही उतर जाये। खीला जैसे जमीन में गाढ़ देते हैं वैसे पूरा जमीन में ही उतर जाये। इतना बल था। फिर सामने चाहे जो भी हो। लेकिन भाव हुआ है, क्रिया नहीं हुई थी। भाव तो हो गया था।

'भरतजी' ने चक्र छोड़ा। एक ही गोत्र के थे इसलिये नियमानुसार शिरच्छेद किये बगैर चक्र वापिस आता है। लेकिन भाव तो हुआ कि नहीं? भाव हुआ। ऐसा कषाय होने के बावजूद भी मैं मोक्ष में जाऊँगा कि नहीं? ऐसी शंका उन्हें नहीं उठती है। वे कोई केवल मुमुक्षु नहीं थे बल्कि तीव्र मुमुक्षु थे उसवक्त। सामान्य मुमुक्षु तो नहीं अपितु तीव्र मुमुक्षु थे। प्रतिक्षण अनन्य भावसे मोक्ष के प्रति उनके परिणामों की गति हो रही है। प्रतिसमय उनके परिणाम में संवर हो रहा है। धर्मीजीव हैं न? प्रतिसमय उनके परिणाम में निर्जरा

हो रही है और प्रतिसमय उनके परिणाम में क्रमशः आंशिक मोक्ष बढ़ता जाता है। मोक्ष हो रहा है। हो रहा है इसलिये शंका उठने का क्या प्रश्न है। एक आदमी जिस दिशा में चल ही रहा है और पर्याप्त गति से चल रहा है फिर उसे शंका कहाँ से होकी कि मैं पहुँचूँगा या नहीं पहुँचूँगा? उसे वैसी शंका नहीं उठती। चरमशरीरी जीव को तो शंका भी नहीं उठती।

मुमुक्षु :- बाहर से लड़ाई के क्षेत्रमें दिखते हैं।

पूज्य भाईश्री :- लड़ाई के क्षेत्र में दिखते हैं। अशुभ भावरूप पाप परिणाम की मन-वचन-काया की चेष्टा दिखे। परिणाम अरूपी है लेकिन मन-वचन-काया के जो चिह्न हैं इसमें से इस जाति के परिणाम स्पष्ट हैं। अशुभ उपयोग है, क्रोध का अशुभ उपयोग है, द्वेषभाव का अशुभ उपयोग है, जो कि स्पष्ट दिखे ऐसे परिणाम हो तो भी उसी वक्त भीतर में धर्म की दशा का भी एक अंश उन्हें वर्तता है।

‘आत्मा के लिये हल्की-फुल्की बात न करना’ यह आदेश है। ‘गुरुदेवश्री’ का यह आदेश है। हल्की बात करना, बातें नाम परिणाम। परिणाम बाहर में बात के रूप में आते हैं, परन्तु ऐसे शिथिल परिणाम नहीं होने चाहिये। तभी आपका आत्मकार्य होगा। शिथिल परिणामी जीवों का आत्मकार्य नहीं होता। इसमें तो कुदरती ऐसी स्थिति होती है कि जिस प्रयत्न से अनंतकाल के अनंतसुख का लाभ होना है और अनन्त कालिन अनंत दुःख का अभाव होना है, जिस प्रयत्न से ऐसे नुकसान से बचना है, ऐसे प्रयत्न में तथारूप वैसा जोर आये बिना रहता नहीं। लाख का मुनाफा हो तब दस पैसे का क्या विचार करना? दस पैसा मिलता है या नहीं? उपेक्षा करता है। जब बड़ा मुनाफा हो तब तीव्र रस की उत्पत्ति सहज हो जाती है। यहाँ बड़ा मुनाफा है - ऐसा जिसे वास्तविकरूप से दिखे उसकी तो प्रगट ऐसी दशा होती है कि

तथारूप जोश, तथारूप उमंग-उत्साह आये बिना नहीं रहता। ऐसा जोश नहीं आता है तो समझ लो कि दिखता भी नहीं है। ऐसा है।

हररोज हम विचार करते हैं, सहमत होते हैं कि यह बात सही है, ठीक है। तो कहते हैं कि उसमें कुछ और दिखता है, जहाँ सुख नहीं है वहाँ सुख दिखता है, दुःख में सुख दिखता है इतना भी अभी बदलाव नहीं आया होनेसे सही सुख का प्रतिभास भी नहीं आता है।

‘आत्मा के लिये हल्की-फुल्की बात न करना। स्वयं जो अनन्तगुणों से युक्त है।’ अनन्त गुणों से (युक्त) है। अनन्त कर्मों से बंधा हुआ है - ऐसे मत देख, ऐसा कहते हैं। ‘स्वयं जो अनन्त गुणों से युक्त है, उसे देख, तू ही देवाधिदेव है - ऐसे देखना चाहिये।’ लोग ऐसा कहते हैं कि अनन्त कर्मों से आत्मा बंधा हुआ है। अनंत कर्म से आत्मा बंधा हुआ है। कहते हैं कि ऐसे मत देख। तू अनन्त गुणों से संयुक्त है। वैसी तेरी रचना है। तेरे स्वरूप की जो रचना है वह अनन्त गुणमय है। उसे तू अपने स्वरूप में देख। तू कर्म से बंधा हुआ है ऐसे देखने से तू अपने आप को नहीं देखता है परन्तु कर्म को देखता है। इसमें तू तुझे नहीं देखते हुए कर्मों को देखता है। तेरे दर्शन करने के लिये तुझे अपने आप को देखना चाहिये। अपना दर्शन करने के लिये कर्मों को देखने से तुझे अपना दर्शन हो यह कैसे बनेगा? वह ज्ञान होने की चीज है। इसके ज्ञान होकर एकतरफ गौण होकर रहना चाहिये।

कर्म आदि संयोग है, देहादि का संयोग है, रागादि का भी परिणाम में संयोग है। संयोग इसलिये है क्योंकि इसका वियोग होता है। संयोग हमेशा वियोग सहित ही होता है। अतः संयोग के ज्ञानपूर्वक गौण होकर एक तरफ रहना चाहिये। परन्तु मैं ऐसे संयोगवाला हूँ... संयोगवाला हूँ... संयोगवाला



हूँ - ऐसे मुख्य करने पर तो कभी असंयोगी तत्त्व के दर्शन नहीं होंगे। जिसको असंयोगी तत्त्व की दृष्टि करनी है उसे असंयोगी तत्त्व जो कि परमार्थ से असंग तत्त्व है उसके अवलोकन का, देखने का और अंतर्मुख होने का प्रयत्न करना चाहिये।

इसलिये ऐसा कहते हैं कि, 'स्वयं जो अनन्त गुणों से युक्त है, उसे देख, तू ही देवाधिदेव है - ऐसा देखना चाहिये।' ऐसे लेना चाहिये मतलब वैसी मुख्यता करनी चाहिये, ऐसी मुख्यता करनी चाहिये। यानी कि विकार एवम् विकार के निमित्त ऐसे कर्मों की व नोकर्म की मुख्यता नहीं करनी चाहिये। मुमुक्षु के परिणाम कैसे होने चाहिये? जिज्ञासु के परिणाम कैसे होने चाहिये? इसका निर्देश है इसमें।

मुमुक्षु :- कैसे देखे ?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानलक्षण द्वारा निर्णय करके पहचान लेना चाहिये। पहचान के बिना तो सब समान ही दिखेगा। कुछ अलग नहीं दिखेगा। भीतर से तत्त्व भिन्न है। असंग तत्त्व है, निर्लेप तत्त्व है, निरालम्ब व निरपेक्ष तत्त्व है। वह जैसा है वैसा स्वरूप ज्ञान में आना चाहिये। ज्ञान में आना चाहिये-भासित होना चाहिये, जानने में आना चाहिये, वैसा हूँ, ऐसा लगना चाहिये जब तो बल आयेगा। वरना खुद का बल नहीं आयेगा। आदमी को बल कब प्रगट होता है? कि, जब खुद अपने भान में होता है तब कि मेरे में शरीरशक्ति है, मेरे में पैसे की शक्ति है, मेरे में कुटुंब-परिवार शक्ति है, मित्रों की शक्ति है, समाज शक्ति है, देश शक्ति है। ऐसा बल आता है कि नहीं बाहर में? उसके अस्तित्व के भान में आता है कि नहीं? यह सब मेरे पास हैं ऐसी हयाती का भान आता है कि नहीं?

वैसे यहाँ अनन्त चतुष्टय से मंडित केवलज्ञान आदि स्वभाव तेरे स्वरूप में है। ऐसी शक्ति की हयाती उस हयाती के स्वीकार में और हयाती

के भान में आत्मबल उत्पन्न होता है। इसके बिना आत्मबल उत्पन्न होने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। दूसरी कोई क्रिया, दूसरे किसी भी प्रकार से आत्मबल उत्पन्न नहीं होता। इसके सिवा जो भी बल दिखता है वह राग बल है। इसमें कहीं भी आत्मबल नहीं है। ज्ञानबल नहीं है, आत्मबल नहीं है, दर्शनबल नहीं है, श्रद्धाबल नहीं है। और जहाँ श्रद्धा-ज्ञान का बल नहीं होता वहाँ चारित्रबल होने का सवाल नहीं उठता। वरना, कोई स्थूलरूप से ऐसा विचार भी कर लेते हैं कि, भले ही हमें श्रद्धा-ज्ञान के विषय की समझ न हो परन्तु चारित्र की दृढ़ता हमारी बहुत है। देखो! हम इतना तो संयम का पालन करते हैं, इतना त्याग करते हैं, कहते हैं कि भाई! बापू! वह चारित्र का स्वरूप नहीं है। वह तो राग की दृढ़ता है वह तथाप्रकार के शुभराग की दृढ़ता है। जो कि मानसिक परिस्थिति है, आत्मिक परिस्थिति नहीं है। मन के संग में उत्पन्न हुआ एक प्रकार का हठ का परिणाम है, जो आत्मिक नहीं है। वह आत्मा के घर की चीज नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञानबल उत्पन्न होता है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानबल में आत्मबल है, आत्मबल में ज्ञानबल है और वह अपने स्वरूप के ज्ञान के आधार से उत्पन्न होता है, अन्य किसी तरह से उत्पन्न नहीं होता।

मुमुक्षु :- ज्ञानबल उत्पन्न होता है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानबल उत्पन्न होता है मतलब वह ज्ञान का उपयोग है जो स्वरूप में स्थिर रहने के लिये शक्तिमान हो। तब वह स्वरूप स्थिरता को सम्यक्चारित्र ऐसा नाम दिया जाता है। और ऐसी स्वरूप स्थिरता हो तब विभाव की उत्पत्ति बंद होती है और विभाव के निमित्त के साथ कोई प्रवृत्ति नहीं रहती, तब उसे परमार्थ संयम और व्यवहार संयम दोनों एकसाथ होते हैं। परमार्थ संयम है वहाँ व्यवहार संयम स्वतः अपने

आप होता है। जैसे स्वदया में परदया का समावेश है वैसे परमार्थ संयम में व्यवहार संयम का समावेश है।

संप्रदाय में ऐसा तर्क चलता है कि, चारित्र पालन किये बिना मोक्ष नहीं होता। प्रश्नकार के प्रश्न में क्या होता है कि उन्हें दीक्षा अंगीकार करके पंच महाव्रत, समिति गुप्ति उस प्रकार से संयम का पालन करना पड़े, तपश्चर्या करनी पड़े, उपसर्ग, परिषह सहन करने पड़े, तभी उसके कर्मों का क्षय होकर मोक्ष हो। बहुत सारे जीवों का इतिहास देखकर ऐसा ऊपर-ऊपर से नक्की करता है। परन्तु ऐसा ही अगर नियम होता तो 'भरत चक्रवर्ती' को दीक्षा लेते ही तुरंत ही मोक्ष की पर्याय उत्पन्न नहीं होती। व्यवहार चारित्र में वे आये ही नहीं। परमार्थ चारित्र में इतने उग्रता से आये, इतनी उग्रतासे आये कि, पूर्ण यथाख्यात चारित्र हो गया। प्रथम विकल्प ऐसा आया कि, यह चक्रवर्तीपना और ये सब दूसरी उपाधियाँ हैं ये सब मुझे नहीं चाहिये। जब थे तब भी इससे भिन्न थे। यह तो जो 'भरतेश वैभव' पढ़ेगा उसे ख्याल आ जाये ऐसा है। जब वे छः खंड का चक्रवर्ती कार्यभार देखते थे, तब भी कितने अलिप्त रहकर करते थे यह विषय बहुत सुंदर रूपसे इसमें लिया है। वे गृहस्थाश्रम में इतने अलिप्त रहते-रहते अंतरस्थिति इतनी मजबूत की, कि जैसे ही उन्होंने मुनिदीक्षा अंगीकार की तो व्यवहार चारित्र में आये बिना ही मोक्षपर्याय में पधारें।

जैसे ही दीक्षा अंगीकार करके ध्यान में बैठे। दीक्षा लेने के पश्चात् प्रथम प्रक्रिया दीक्षा में वही दी जाती है। प्रतिज्ञा ऐसी दी जाती है कि, मैं निरंतर शुद्धोपयोग में रहूँगा। मैं बाह्य व्यवहार चारित्र के आचार-विचार में रहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा नहीं होती। मूल प्रतिज्ञा है। (बाह्य चारित्र) तो अपवाद है, सिद्धांत तो यह है, सिद्धांतिक प्रतिज्ञा तो ऐसी है। फिर इसमें अपवाद होता है तब

इसप्रकार के बाह्य चारित्र की मर्यादा होती है। प्रवृत्ति की मर्यादा है। वे (भरतजी) सीधे ध्यान में बैठे। सप्तम गुणस्थान में आते हैं। मुनि, भावलिंगी संत दीक्षा अंगीकार करके तुरंत प्रथम ही ध्यान के काल में सातवें गुणस्थान में आरूढ़ होते हैं। जब वे दीक्षा लेते हैं, दीक्षा की विधि के वक्त जो शुभोपयोग होता है उस वक्त शुद्धता की अंतर में स्थिति चतुर्थ या पंचम गुणस्थान के योग्य होती है। उसवक्त छठे-सातवेरूप मुनिदशा की किसी की स्थिति नहीं होती।

प्रथम ध्यान में बैठते ही उपयोग इतने जोर से स्वरूप में स्थिर होता है (कि) सीधा सातवाँ गुणस्थान आता है। फिर उसमें से छठे गुणस्थान में जब आते हैं तब अहिंसा, सत्य, पंच महाव्रत इत्यादि परिणाम होते हैं। शुभविकल्प होते हैं। जबकि 'भरत' चक्रवर्ती तो सातवें से छठे गुणस्थान में आने के बजाय आठ, नौ, दस... ऐसे श्रेणी लगा लेते हैं। बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करके अरिहंतदशा में आये हैं। वे मुनिदशा में रहे ही नहीं।

अभी कौनसा पुराण पढ़ा? 'हरिवंश पुराण' के अंदर चौबीसों तीर्थंकर की एवम् ऐसे पुराण पुरुषों की मुनिदशा का काल लिया है। वैसे तो पूरा आयुकाल लिया है कि भगवान 'ऋषभदेव स्वामी' का एक करोड़ का या चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य था। एक करोड़ पूर्व की आयु थी। जिसमें से इतने वर्ष तक वे गृहस्थ अवस्था में रहे, इतने वर्षों तक वे मुनिदशा में रहे और इतने वर्ष तक वे अरिहंत दशा में रहे, बाद में सिद्धालय पधारें।

वैसे ही 'रामचंद्रजी' का भी 'पद्मपुराण' में आता है। सत्तर हजार वर्ष तक वे गृहस्थ अवस्था में रहे। मुनिदशा में बहुत थोड़े वर्षों तक रहे हैं। परन्तु हरएक का मुनिदशा का काल आयुष्य की बराबरी में बहुत अल्प है। मुनिदशा का काल बहुत अल्प है आयुष्य के अंदर। जब हजारों-

लाखों वर्ष के आयुष्य थे तब भी मुनिदशा का काल बहुत कम है, बहुत अल्प है। इसका मतलब यह होता है कि चरमशरीरी जीवों का पुरुषार्थ मुनिदशा में आने के बाद इतना तेजी से कार्य करता है। वे सब चरमशरीरी जीव थे न? इतना तेजी से कार्य करते हैं कि, बहुत अल्पकाल में केवलज्ञान लेते हैं। इनका Average Ratio सब की आयु का देखे तो मुनिदशा का चारित्रिकाल सब का बहुत अल्प है। ऐसे सब पुराण पुरुषों का वर्णन एकसाथ आता है। यानी कि किसी भगवान के श्रीमुख से वाणी निकलती है जिसमें सब का इतिहास प्रसिद्ध होता है। इसमें ये सब काल परिमाण को लिये हैं। बहुत अल्प। कुछएक का तो चंद महीने ही हैं केवल। किसी को महीना, दो महिना या तीन महीने में कुछएक ने केवलज्ञान

लिया है। जबकि किसी ने साल, दो-तीन साल में लिया है। इससे अधिककाल तो शायद ही किसी को लगा है।

मुमुक्षु :- अभी तो विपरीत दशा है।

पूज्य भाईश्री :- वर्तमान में तो मुनिदशा देखी ही नहीं जाती है। भावलिंग मुनिदशा देखने में नहीं आती है। अरे! सम्यग्दृष्टि ढूँढने पर नहीं मिलते, मुनिदशा तो आयेगी कहाँ से? ऐसी परिस्थिति है।

‘श्रीमद्जी’ लिखते हैं कि, ‘इस काल में तो तुझे सम्यग्दृष्टि का समागम मिल जाये तो भी तेरा कल्याण हो गया समझ लेना।’ - ऐसा लिखा है। पंचमकाल में दुर्लभ है। चतुर्थकाल में दुर्लभ है तो पांचवें में तो दुर्लभ से दुर्लभ है। ऐसा लिया है। यह १४८ (बोल पूरा) हुआ।

### (श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

मार्गका नाश न करे। इत्यादि विचारमें मेरा चित्त रहता है। तो फिर जिसका परमार्थ-बल या चित्तशुद्धि हमारेसे कम हो उसे तो अवश्य ही वह मार्गणा प्रबलतासे रखनी चाहिये, यही उसके लिये बलवान श्रेय है, और आप जैसे मुमुक्षुपुरुषको तो अवश्य वैसा वर्तन करना योग्य है। क्योंकि आपका अनुकरण सहज ही दूसरे मुमुक्षुओंके हिताहितका कारण हो सकता है। प्राण जाने जैसी विषम अवस्थामें भी आपको निष्कामता ही रखनी योग्य है, ऐसा हमारा विचार, आपको आजीविकासे चाहे जैसे दुःखोंकी अनुकंपाके प्रति जाते हुए भी मिटता नहीं है, प्रत्युत अधिक बलवान होता है। इस विषयमें विशेष कारण बताकर आपको निश्चय करानेकी इच्छा है, और वह होगा ऐसा हमें निश्चय रहता है।

इस प्रकार आपके या दूसरे मुमुक्षुजीवोंके हितके लिये मुझे जो योग्य लगा वह लिखा है। इतना लिखनेके बाद अपने आत्माके लिये उस संबंध में मेरा अपना कुछ दूसरा भी विचार रहता है, जिसे लिखना योग्य नहीं था, परंतु आपके आत्माको कुछ दुःख देने जैसा हमने लिखा है तब उस लिखनेको योग्य समझकर लिखा है। वह इस प्रकार है, कि जब तक परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार मुझे उदयमें हो तब तक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु या सत्पात्र जीवकी तथा अनुकंपायोग्य जीवकी, उसे बताये बिना, हमसे जो कुछ भी सेवाचाकरी हो सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करना, क्योंकि ऐसा मार्ग ऋषभ आदि महापुरुषोंने भी कहीं कहीं जीवकी गुण-निष्पन्नताके लिये मान्य किया है; यह हमारा निजी (आंतरिक) विचार है, और ऐसे आचरणका सत्पुरुषके लिये निषेध नहीं है, किन्तु किसी तरह कर्तव्य है। यदि वह विषय या वह सेवाचाकरी मात्र सन्मुख जीवके परमार्थको रोधक होते हों तो सत्पुरुषको भी उनका उपशमन करना चाहिये।

असंगता होने या सत्संगके योगका लाभ प्राप्त होनेके लिये आपके चित्तमें ऐसा रहता है कि केशवलाल, त्रंबक इत्यादिसे गृहव्यवहार चलाया जा सके तो मुझसे छूटा जा सकता है। अन्यथा, आप उस व्यवहारको छोड़ सके, वैसा कुछ कारणोंसे नहीं हो सकता, यह बात हम जानते हैं, फिर भी आपके लिये उसे बारबार लिखना योग्य नहीं है, ऐसा जानकर उसका भी निषेध किया है। यही विनती। प्रणाम प्राप्त हो।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-२२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.१-८-१९९१

कल तुमने एक प्रश्न उठाया था।

प्रश्न :- अखण्ड ज्ञान अर्थात् ?

समाधान :- हाँ, पहले पेरोग्राफ और अन्तिम पेरोग्राफ इन दोनों में समन्वय करना है। पहले पेरोग्राफ में यह कहा था कि जिस प्रकार से आत्मा प्रथम श्रद्धा के समय पुरुषार्थ करता है, तब श्रद्धा में तो पुरुषार्थ का प्रयोग बारम्बार ऐसी की ऐसी वृद्धि करने का है। पहले के पुरुषार्थ में और बाद के पुरुषार्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, अर्थात् जातिभेद नहीं है। इस कारण 'गुरुदेव'श्री ने यथार्थ समझ पर बारम्बार जोर दिया है, क्योंकि यथार्थ समझ में भविष्य का पुरुषार्थ गर्भित है। यहाँ यह लिया है कि पुरुषार्थ उत्पन्न होने का कारण समझ है, यथार्थ समझ है अर्थात् ज्ञान है।

इस पेरोग्राफ में यह प्रश्न चला है कि आत्मा अपनी तरफ का अर्थात् स्वाभिमुख पुरुषार्थ को वृद्धि करने का प्रयोग किस प्रकार से करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने यह (समाधान) दिया कि जिस प्रकार से वह शुरुआत करता है, उस प्रकार से ही वह वृद्धि करता है। जिस प्रकार के प्रथम श्रद्धा के समय पुरुषार्थ शुरु करता है, उसी प्रकार से वह आगे भी पुरुषार्थ की वृद्धि करता है। जहाँ तक पुरुषार्थ का सवाल है, वहाँ तक पुरुषार्थ के प्रकार में कोई प्रकारान्तर नहीं है, दूसरा प्रकार नहीं है, परन्तु ऐसा कहना है कि पुरुषार्थ के पहले और बाद के प्रकार में अन्तर नहीं होने पर भी मुमुक्षु जीव के लिए श्रद्धा प्रकट करने के लिए यथार्थ समझ पर 'गुरुदेव'श्री बारम्बार जोर देते हैं।

'गुरुदेव'श्री यथार्थ समझ पर बारम्बार जोर देते हैं, उसका कारण यह है कि यथार्थ समझ में भविष्य का पुरुषार्थ गर्भितरूप से रहा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव को मुमुक्षु की भूमिका में यथार्थ समझ होती है, उसे उस समझ के कारण पुरुषार्थ उत्पन्न हो जाएगा और उसे श्रद्धा भी यथार्थ होगी और यथार्थ श्रद्धा हुई कब कहलायेगी ? कि जब उस पुरुषार्थ से स्वरूपलीनता प्रकट होगी तब। इस प्रकार श्रद्धा और

स्वरूपलीनता का एक काल है, दूसरा काल नहीं। दोनों एक ही काल में उत्पन्न होती है तो भी ज्ञान के कारण पुरुषार्थ उत्पन्न होता है और पुरुषार्थ के कारण से श्रद्धा और लीनता उत्पन्न होती है। इसलिए ज्ञान, श्रद्धा और लीनता ये होकर जो मोक्षमार्ग का रत्नत्रय - ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य है, (वे) तीनों ही रत्न हो गये और पुरुषार्थ के कारण प्रकट हुए - ऐसा कहना है। पुरुषार्थ को कारण लें तो निश्चय रत्नत्रय, वह उसका कार्य है, परन्तु उस पुरुषार्थ का कारण विचार किया जाए तो मुमुक्षु की भूमिका में यथार्थ समझ है - ऐसा कहना है।  
मुमुक्षु :- यथार्थ समझ होवे तो यह क्रिया होती ही है।

पूज्य भाईश्री :- यह क्रिया होगी।

मुमुक्षु :- दो परिस्थिति की अलग अलग बात हो गयी।

पूज्य भाईश्री :- दूसरी परिस्थिति में एसा लिया कि अखंड ज्ञानघन पुरुषाकार, देहाकार शरीर, कर्म, भावकर्म से और शुद्धपर्याय से भी गहरा चैतन्यतत्त्व में हूँ - यह दृष्टि प्रधानता से बात की, क्योंकि शुद्धपर्याय से भी गहरा तत्त्व ले लिया है और जिसे शुद्धपर्याय प्रकट हुई है, उसे भी; जिसे प्रकट ही नहीं हुई, उसे तो उससे गहरा तत्त्व विचारने का प्रश्न नहीं रहता, क्योंकि उसके पास तो राग की पर्याय है, शुद्धता की पर्याय नहीं है, अशुद्धता की पर्याय है; परन्तु जो जीव, स्वरूपलीनता करता है, वह स्वरूपलीनता अथवा स्वरूप ध्यान जिसे कहा जाता है, उस स्वरूपध्यान में क्षेत्र को भी एक अवलोकन के लिए भूमिका-आधारभूमि जिसे कहा जाता है, ऐसा अवलम्बन लेने के लिये भाव में एक प्रकार उत्पन्न होता है, उसका यहाँ संकेत किया है कि देहाकार अखण्ड ज्ञानघन, पुरुषाकार अर्थात् देहाकार, अर्थात् पूरा क्षेत्र ले लिया। देहाकार में व्यंजन पर्याय ली। शास्त्र - आगमभाषा में कहें तो व्यंजनपर्याय ली। यहाँ व्यंजनपर्याय लेने का क्या कारण है ? कारण



यह कि उन्होंने पत्र में जो विषय प्रतिपादन किया है, उसका मुख्य कारण तो उनका स्वानुभव है। स्वयं जिस प्रकार से ध्यान धरते हैं और उन्हें ध्यान करने में जो प्रकार स्वयं के भाव में आता है, तदनुसार वे स्वयं कहते हैं या लिखते हैं - यह उनकी पद्धति है। यह स्पष्टता तो रूबरू (प्रत्यक्ष में) हो गयी थी।

कोई आगम के प्रश्न आते थे, तब वे अपने परिणामन के अनुसार उत्तर देते थे। तब प्रश्नकार उस प्रकार उस समय यह कहे कि तुमने ऐसा उत्तर दिया, परन्तु यह प्रश्न, हमने अमुक शास्त्र में चर्चा चली है या बात चली है, उसमें से किया है और वहाँ आचार्य महाराज ने ऐसा उत्तर दिया है, जो आपके उत्तर के साथ मेल नहीं खाता। रूबरू में ऐसी चर्चा चली, तब वे कहते थे कि तुमने किस शास्त्र में से, वहाँ क्या अपेक्षा और विवक्षा चली है - यह स्पष्ट किये बिना प्रश्न किया है। उपर से प्रश्न करे, उत्तर देनेवाले को अनजान रखे कि क्या उत्तर देते हैं ? उसे तो परीक्षा दृष्टिकोण होता है। क्योंकि वे कोई ज्ञानी रूप से प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं थे।

‘गुरुदेव’ के समक्ष ऐसा प्रश्न रखना होवे तो विनय रखना पड़ता है कि साहेब ! इस शास्त्र में ऐसी बात आयी है और वहाँ से मुझे ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है तो मुझे क्या समझना ? मुझे समझ में नहीं आता अथवा वहाँ मुझे ऐसा समझ में आता है - वह सही है या क्या ? तो ‘गुरुदेव’ वहाँ से ऐसा कहें। ‘गुरुदेव’ ने तो समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया है, इसलिए ऐसा कहते हैं कि वहाँ यह बात चली है और आचार्य महाराज ने यह प्रतिपादन किया है, वह इस दृष्टि से यथार्थ है, इस नय से, इस न्याय से वह यथार्थ है।

परन्तु उनके पास तो सीधे ऐसे ही प्रश्न होते थे कि पूछनेवाला है, वह आगम का नाम नहीं लेता, प्रकरण का नाम नहीं लेता, आचार्य का नाम नहीं लेता, सीधा ही प्रश्न करे, तब फिर उन्हें ख्याल आ जाए। जब सामनेवाला व्यक्ति दूसरे उत्तर का स्पष्टीकरण करे, तब आचार्य महाराज से विरुद्ध कहने का या अन्यथा कहने का स्वयं को भी अहंपना नहीं है। ऐसा नहीं कहते कि मेरा ठीक है, भले ही वहाँ ऐसा कहा हो

- यह नहीं कहते। अर्थात् वह जो बात चली है, वह यथार्थ है, परन्तु तुमने कहाँ से प्रश्न किया है - यह तो मुझे कुछ पता नहीं। इसलिए जो प्रश्न आता है, उस प्रश्न का भाव मैं समझता हूँ, उसका उत्तर मैं अपनी परिणति से देता हूँ। मेरे अन्तर में जो परिणति चलती है, उसका अनुसरण करके मैं उत्तर देता हूँ; इसलिए मुझे माफ कर देना। कदाचित् तुम्हें शास्त्र से दूसरा उत्तर लगे तो तुम मुझे क्षमा कर देना। इसप्रकार बहुत नम्रता से उत्तर दिया है।

इसी प्रकार यहाँ भी एक प्रश्न उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने एक मुमुक्षु की भूमिका का उत्तर देने के बाद और उसमें ‘गुरुदेव’ का सन्दर्भ देने के बाद; अब स्वयं ज्ञानदशा में किस प्रकार से पुरुषार्थ करते हैं ? क्योंकि प्रश्न तो पुरुषार्थ की वृद्धि का है; पुरुषार्थ के प्रारम्भ का नहीं, किन्तु पुरुषार्थ की वृद्धि का प्रश्न है कि पुरुषार्थ की वृद्धि का प्रयोग किस प्रकार होता है ? इसलिए To the point जो उत्तर है, वह तो अब आता है। तो ऐसा कहते हैं कि मोक्षमार्गी जीव को पुरुषार्थ की वृद्धि हो, तब निर्विकल्पदशा होती है। उग्र पुरुषार्थ के काल में या तीव्र पुरुषार्थ के काल में निर्विकल्पदशा होती है और पुरुषार्थ की मन्दता के काल में मोक्षमार्गी धर्मात्मा, शुभोपयोग में आते हैं। ‘प्रवचनसार’ की ‘चरणानुयोग सूचक चूलिका’ में गाथा २५४-२५५ में यह विषय चला है।

यहाँ पर जब पुरुषार्थ की वृद्धि की बात है, तब वह किस प्रकार वृद्धि करे ? तो कि स्वरूपध्यान करे तब वृद्धि करे। स्वरूपध्यान का पुरुषार्थ है तो स्वरूपध्यान में जो आत्मा देहाकार से सम्पूर्ण चैतन्यपिण्ड है, वह अवलम्बन की आधारभूमि है, क्योंकि वह अस्तित्वगुण की पर्याय है। प्रदेश में अस्तित्व-प्रदेश जितने प्रदेश है, उतना अस्तित्व व्याप्य - व्यापकरूप से है और श्रद्धागुण, अस्तित्वगुण को पकड़ता है और मोक्षमार्ग में श्रद्धा के बल से आगे बढ़ा जाता है।

यह ‘बहिनश्री’ का वचनमृत है कि मोक्षमार्ग में साधकजीव श्रद्धा के बल से - दृष्टि के बल से आगे बढ़ता है। वहाँ ‘दृष्टि’ शब्द का प्रयोग किया है और स्वयं ‘दृष्टि’ शब्द (प्रयोग किया है)। दृष्टि के बल से

आगे बढ़ता है। दृष्टि का बल कहो या श्रद्धा का बल कहो। तो यहाँ क्या फर्क पड़ा है ? पुरुषार्थ के प्रकार का फर्क नहीं पड़ा, परन्तु पुरुषार्थ के प्रारम्भ के लिए अज्ञानदशा में से ज्ञानदशा में आने में और श्रद्धा तथा लीनता प्रकट करने में ज्ञान कारण है, परन्तु जिसे ज्ञान और श्रद्धा प्रकट हुई, उसे पुरुषार्थ की वृद्धि होने में दृष्टि कारण है, श्रद्धा कारण है। ऐसा एक कारण - कार्य के न्याय में सूक्ष्म परिवर्तन है, इसका बहुतों को ख्याल नहीं है; इसलिए क्या करते हैं कि कहीं कुछ लगाते हैं और कहीं कुछ लगाते हैं। ज्ञानदशा में ज्ञान का कारण लगा देते हैं और मुमुक्षुदशा में श्रद्धा का कारण लगा देते हैं कि श्रद्धा से आगे बढ़ो; दूसरा कहे ज्ञान से आगे बढ़ो; फिर विवाद होता है।

क्योंकि मोक्षमार्गी को तो अनुभवज्ञान तो वर्तता है, परिणति भी वर्तती है परन्तु उपयोग बाहर जाता है और श्रद्धा बाहर नहीं जाती। ज्ञान का उपयोग बाहर जाता होने पर भी श्रद्धा बाहर नहीं जाती और श्रद्धा अपनी पूरी शक्ति से स्वरूप की श्रद्धा करने का अपना परिणमन चालू रखती है, अपना कार्य चालू रखती है और उसमें Force बहुत हैं। स्वयं का श्रद्धाबल, श्रद्धा को स्वयं का श्रद्धाबल पूरा-पूरा है; जबकि ज्ञान का ज्ञानबल है, वह बटा हुआ है। (ज्ञान में) दो भाग हो जाते हैं - लब्ध और उपयोग के। यथापि लब्ध बलवान है उपयोग बलवान नहीं हैं। बाहर गया हुआ ज्ञानी का उपयोग बलवान नहीं है, लब्ध बलवान है; तथापि श्रद्धा का जोर बहुत है, क्योंकि संपूर्ण, गुण की संपूर्ण शक्ति से गुण कार्य कर रहा है। विभक्त शक्ति से (श्रद्धा काम नहीं करती।) दोनों में अनन्त शक्ति है। श्रद्धागुण में भी अपनी अनन्त शक्ति है और ज्ञानगुण में, प्रत्येक गुण में स्वयं की अनन्त शक्ति है, परन्तु श्रद्धा पूरी शक्ति से कार्य करती है और दूसरे गुण अधूरी शक्ति से कार्य करते हैं - ऐसा कहना चाहिए। इसलिए आगे बढ़ने का, पुरुषार्थ के प्रकार में वृद्धिगत होने का कारण वहाँ श्रद्धा है - ऐसा कहते हैं। ऐसा यहाँ स्वयं प्रतिपादन करते हैं कि लीनता होने में क्या कारण हैं ? देखो, अब ! अब फिर से लेते हैं।

प्रश्न :- यह जो ज्ञान में दो भेद पड़े न - लब्ध

और उपयोग, तो ज्ञान के जोर के साथ लब्ध-चलता है न ?

समाधान :- हाँ, लब्ध और श्रद्धा का विषय एक है, शुद्धात्मा है।

प्रश्न :- साथ-साथ चलता है ?

समाधान :- हाँ, अभेदपने चलता है। साथ अर्थात् अभेदपने से वर्तता है। जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति है, वह अभेद है। तीनों की एकतारूप धर्म है और वहाँ वह परिणतिरूप धर्म है। शुभोपयोग होता है, वह धर्म नहीं है। अशुभोपयोग का प्रश्न तो चर्चा योग्य ही नहीं हैं, परन्तु शुभोपयोग होता है, वह भी ज्ञानी को धर्म नहीं है।

प्रश्न :- मुमुक्षु सच्ची समझ का प्रयास करता है, परन्तु श्रद्धा उल्टी होने से प्रयास है, वह निष्फल जाता है - ऐसा होता है ?

समाधान :- नहीं, उसमें क्या है कि यथार्थ समझ में ऐसा एक कारण उत्पन्न होता है यथार्थ समझ के कारण कि दर्शनमोह का अनुभाग घटता जाता है, यह शास्त्रभाषा में (कहा) परन्तु प्रचलित भाषा में कहें तो दर्शनमोह का जो भाव है, उसका रस टूटता जाता है और शक्ति रस में है। इसलिए दर्शनमोह की जो शक्ति है, दर्शनमोह के परिणाम में जो मिथ्यात्व की जो शक्ति है, वह शक्ति टूटती जाती है और दर्शनमोह कमजोर पड़ता जाता है। दर्शनमोह का भाव कमजोर (पड़ता है), इतना कमजोर पड़ता है, इतना कमजोर पड़ता है, इतना कमजोर पड़ता जाता है कि एक समय उसे दबाने की क्षण आ जाता है। सम्पूर्ण दब जाए, उदय ही न आवे, भाव से या द्रव्य से दोनों प्रकार से (उदय ही न आवे), वरना उसमें द्रव्य उदय आवे तो भाव हुए बिना नहीं रहे। मिथ्यात्व की प्रकृति का उदय होवे, वह जीव को भाव में अवश्य मिथ्यात्वभाव ही प्रवर्ते, उसे सम्यक्भाव नहीं प्रवर्त सके; इसलिए प्रथम उसे भाव में उपशमित करने का कारण बने तो ही द्रव्य में उपशमित हो। भाव में उपशमित होवे तो द्रव्य में उपशमित हो, इसलिए सबको प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन होता है। उसका कारण यह है कि भाव से और द्रव्य से दोनों प्रकार से वह बलवान प्रकृति है और वह



हीन नहीं पड़े, तब तक दब नहीं सकती और वह कार्य यथार्थ समझ करती है।

अब यहाँ जिसे मिथ्यात्व प्रकृति का उदय ही नहीं है और भाव में मिथ्यात्व का भाव नहीं है, वह मोक्षमार्ग में किस प्रकार आगे बढ़ता है ? तो कहते हैं अब उसके पास श्रद्धा की एक बहुत बड़ी ताकत आ गयी है। जो मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा पड़ी थी, वह संपूर्ण सूलटी हो गयी है और यह उसके पास बहुत बड़ी ताकत है।

सम्यग्दर्शन की पूँजी इतनी बड़ी है कि सातवें नरक की पीड़ा भी उसे विचलित नहीं कर सकती। सातवें नरक की असाता की पीड़ा सम्यग्दर्शन को विचलित नहीं करती, उपयोग को विचलित कर जाए, चारित्र्य में द्वेष या राग उत्पन्न हो जाए (परन्तु) सम्यग्दर्शन को नहीं हिला सकती। इसीलिए 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने 'निर्जरा अधिकार' में यह बात ली है कि (भले ही) वज्रपात हो जाए और भले ही तीन लोक में खलबली मच जाए, सम्यग्दृष्टि अविचलित रहेनवाला है। हमें उसके सम्यग्दर्शन की ताकत का पता है कि सम्यग्दृष्टि विचलित नहीं होता, जाओ ! इसलिए 'समयसार' के 'निर्जरा अधिकार' में वहाँ 'वज्रपात' शब्द का प्रयोग किया है और ऐसा साहस करने को सम्यग्दृष्टि समर्थ है। 'साहसम् इदम्' यह साहस करने को सम्यग्दृष्टि समर्थ है, दूसरे किसी की ताकात नहीं है कि वह साहस कर सके।

सामान्य मनुष्य तो छोटी-मोटी बात में हिम्मत हार जाते हैं, सामान्य प्रसंगों में हिम्मत हार जाते हैं। सम्यग्दृष्टि को कभी हिम्मत हारने का, भय होने का कोई प्रश्न नहीं है। चारित्र्यमोह का होवे तो उसे पररूप जानता है। अन्दर की मजबूती इतनी की इतनी है, श्रद्धा में कोई फर्क नहीं पड़ता।

इसलिए वास्तव में तो श्रद्धा का जो परिणाम अनन्त बलवान है, उसे मापने के लिए जगत में कोई साधन नहीं है। न तो सातवाँ नरक साधन है, न तो वज्रपात साधन है, परन्तु समझाने के लिए इतना कहना पड़ता है। जीव को इससे अधिक उपद्रव करनेवाला अन्य कोई नहीं है, बाकी अनन्त का अर्थ यह है कि किसी बात से जिसका अन्त नहीं लाया जा सके, उसका

नाम अनन्त है। इसलिए सम्यग्दृष्टि के श्रद्धाबल को मापने की कोई शक्ति, कोई माप, कोई उपमा, कोई मीटर, कोई बात जगत में है ही नहीं। वस्तुतः तो ऐसा है। ये वे प्रसंग मापे जाते हैं, सातवीं नरक मापी जाती है और वज्रपात मापा जाता है; अभी वहाँ सम्यग्दर्शन की श्रद्धा नहीं मपती - ऐसा लेना।

इसमें यह एक अस्तित्व और प्रदेशत्व, किसी समय इस अस्तित्वगुण की पर्याय ली जाती है। प्रदेशत्व और अस्तित्वगुण की (पर्याय ली जाती है।) जहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की बात चलती है, तब कोई यह कहता है कि भाई ! यह द्रव्य-गुण-पर्याय, ये तीन थे परन्तु उसमें यह चौथा क्षेत्र कहाँ से आया ? तो यह पर्याय का एक दूसरा भेद है, क्योंकि पर्याय में अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दो प्रकार उत्पन्न होते हैं और दोनों सर्वथा पृथक् प्रकार हैं; और क्षेत्र का महत्त्व वहाँ है कि ध्यान में जो रमणता, लीनता करनी है, उसमें कहीं अपने क्षेत्र से बाहर व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। वहाँ से स्वयं बात शुरु की है। लीनता का विषय लेना है, इसलिए इसके अन्दर ध्यान का संकेत है, ध्यान के पुरुषार्थ का संकेत है इसके अन्दर।

'अखंड ज्ञानघन पुरुषाकार...' अर्थात् सीधा इस उपयोग में सम्पूर्ण चैतन्यपिण्ड ही लिया जाता है और उसमें अनन्त गुणों की सामर्थ्य भरी है। ऐसा जो स्वरूप अस्तित्व है, वह श्रद्धा को ग्रहण करने का है। इसलिए इसमें दोनों बात कर लेते हैं कि अनन्त सामर्थ्य शक्तिरूप से और वह शक्ति जितने क्षेत्र में रही है, उतने का ही आधार लेना है, उससे बाहर कहीं नहीं, उसकी आधारभूमि अन्यत्र कहीं नहीं है। परिणाम की आधारभूमि अपना स्वक्षेत्र ही है।

इसका एक दूसरा कारण भी है कि मन में विकल्प चलते हैं, निर्विकल्पध्यान से पूर्व मन में विकल्प चलते होते हैं और मन में विकल्प बहुत सूक्ष्म हों, फिर यहाँ थोड़ा विशेष वेदन आता है। जिसे परिणाम की चंचलता घटती है, अन्यमति जीवों के यह योग का और प्राणायाम का प्रयोग करते समय यहाँ अनुभव होता है - ऐसा कहने का कारण है कि उसमें अनुभव की बात करते हैं, परन्तु वह कोई निर्विकल्प अनुभव नहीं है। जो थोड़ा

मस्तक है, उसे वे लोग ब्रह्मरंध्र कहते हैं, वहाँ ज्ञान का वेदन थोड़ा उग्र होता है, उस भाग में, उस भाग में...

प्रश्न :- वेदन सहित...

समाधान :- नहीं, अभी सविकल्पदशा है, परन्तु चंचलता घटती है, तब क्षेत्र अपेक्षा से यह एक अनुभूत भाव है, क्षेत्र अपेक्षा से यह चर्चा थोड़ी उनके साथ की थी। तो कहा ठीक है। यह प्रश्न किया था। यह बात सही है, चंचलता घटे तब थोड़े दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा से इतने भाग में मस्तिष्क में जरा वेदन का प्रकार स्पष्ट अनुभवगोचर होता है, परन्तु आत्मा क्षेत्र अपेक्षा से अखण्ड है, एक प्रदेशी है; असंख्य प्रदेशपना तो व्यवहार से कहना मात्र है। ध्यान का विषय जो निर्विकल्प अनुभव का है, वह तो लगातार (अखण्ड) चैतन्यपिण्ड देहाकार है। निर्विकल्पदशा में वह जो परिस्थिति (बनती है।) उन लोगों को निर्विकल्पदशा नहीं होती, इसलिए उसे (ही) ध्यान मानते हैं।

मुमुक्षु :- मस्तिष्क को मुख्य करके बात करते हैं।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, और देखो न लोगों में भी व्यक्ति क्या कहते हैं ? कि किसी भी व्यक्ति को चिन्ता होगी तो सिरदर्द होगा, थोड़ी-सी चिन्ता बढ़ेगी अथवा ऐसा कहते हैं कि भाई ! मुझे मस्तिष्क में बात ठीक से आती नहीं है। यह एक उलझन का विषय है और इसमें सिर थोड़ा अंदर उलझ गया है तो यह उलझन सुलझे तब सिर स्वच्छ हो ऐसा है - यह कहते हैं। यह कुदरत में कोई भी प्रकार हो, इस प्रकार का विज्ञान आगम में कहीं स्पष्ट नहीं है। वेद्यक विज्ञान में तो ऐसा कहते हैं कि भाई ! वहाँ ज्ञानतंतुओं का समुह खोपड़ी के अन्दर भाग में है और वहाँ मस्तिष्क है - ऐसा कहा जाता है और वहीं से सब ORDER होता है। वहाँ से पाँचो इन्द्रियो के कार्य करने का हुकम निकलता है। अब, वह चाहे जो प्रकार हो, परन्तु चिन्ता के विषय में व्यक्ति को अथवा मनुष्य बहुत बुद्धिशाली होवे तब उसे यह कहा जाता है कि इसका मस्तिष्क बहुत है, बहुत दिमागवाला है। अथवा तो फिर (ऐसा कहते है कि) इसमें कोई दिमाग ही नहीं है। होवे संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य। इसलिए वहाँ निमित्त-

नैमित्तिक सम्बन्ध से क्षेत्र का या शारीरिक अवयवों की रचना का कोई भी प्रकार हो, परन्तु जब चंचलता घटती है, तब ज्ञानवेदन है, वह इतने भाग में तारतम्य विशेषता पकड़ता है। वेदन तो ज्ञान का ही है और थोड़ी तारतम्यता विशेष पकड़ता है और चंचलता घटने के कारण आकुलता घटती है, परिणाम की चंचलता घटती है तब आकुलता का पारा एकदम नीचे आता है और तब व्यक्ति को थोड़ी शान्ति लगती है, उसे वे लोग ध्यान मानते हैं। कैसा ध्यान होता है ? तो कि वह तो वचनातीत है क्योंकि वेदन को तो वैसेभी वर्णन किया जा सके - ऐसा नहीं है। इसलिए वे लोग भी, हमें वचनातीत ध्यान होता है और अनुभूति होती है उसे अनुभूति मानते हैं। अनुभव की क्रिया को अनुभूति कहते हैं। उन लोगों की भी संस्कृत तो POWERFUL है। ब्राह्मण और उन लोगों की संस्कृत बहुत POWERFUL है। वे लोग 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु वहाँ तक निर्विकल्प ध्यान की कोई बात समझने योग्य नहीं है।

प्रश्न :- जब चक्कर आते है, तब सिर में ख्याल आता है कि यह चक्कर आते हैं, तब विकल्प भले ही यहाँ चलते हों...

समाधान :- हाँ, परन्तु SENSATION वहाँ होगी। यह तो है, यह तो है ही और वहाँ INJURY हुई, इसलिए व्यक्ति DANGERZONE में आ गया। सिर में अन्दर जो कोई रचना है, वहाँ किसी भी कारण से कुछ भी INJURY हो गयी, फिर भले ही BLOOD का CIRCULATION BLOCK हुआ हो या कोई चोट लगने से अन्दर कोई DAMAGE हुआ हो परन्तु वहाँ कोई DAMAGE होवे, इसलिए वह व्यक्ति सीधे DANGERZONE में आ जाए, HEART DISEASE करने पर भी आधिक HEART DISEASE का उपचार है, OPERATION सरल है, यहाँ का नहीं।

ऐसे (ही) ध्यान की निर्विकल्पदशा के पूर्व एक यह जो प्रकार है उस प्रकार में भूल से भी न आवे, अनुभवी पुरुष ऐसा कहते हैं कि जो अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकाररूप जो सम्पूर्ण चैतन्यपिण्ड आत्मा है, वहाँ व्याप्य-व्यापक भाव से अनुभव होता है, सिर्फ इतने

में नहीं, इस STAGE से आगे बढ़ना है। यह STAGE नहीं आता ऐसा नहीं कहना है, परन्तु इस STAGE से आगे जाना है।

मुमुक्षु :- यह STAGE में भूल पड़ती है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पड़ती है। इस STAGE में भी अमुक विभाग ही आया न ? प्रदेश का भी एक विभाग ही आया - व्यंजन पर्याय का। व्यंजनपर्याय किस लिए ली है ? हमें यह विचार करना है, वरना ध्यान की और एकाग्रता की बात लेनी है तो व्यंजनपर्याय की बात किसलिए जोड़ी है ? (इन) पत्रों का बहुत गहराई से अभ्यास करने जैसे यह सब विषय है।

शरीर तो नहीं, कर्म नहीं, भावकर्म नहीं, शुद्धपर्याय से गहरा चैतन्यतत्त्व में हूँ, 'मैं हूँ' - यह 'मैं हूँ' - यह श्रद्धा का विषय है। 'यह ही मेरा अस्तित्व है...' यह अस्तित्व श्रद्धा का विषय है। 'शुद्धपर्याय का अस्तित्व भी उसमें गौण है...' उसे भी स्पर्श नहीं करना है। 'ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब ही कही जाती है...' देखो ! यह श्रद्धा की बात ली। ऐसी यथार्थ श्रद्धा कब कही जाती है ? कि 'ऐसी श्रद्धा के प्रसार के साथ ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है।'

'लीनता का पुरुषार्थ अथवा उसमें वृद्धि, यह सब पर्याय के कार्य है।' तत्पश्चात् उसमें इसी प्रकार से जोर आता है अर्थात् श्रद्धा का पुट लगता है, 'दिपचंदजी' ऐसा कहते हैं। धम्मीजीव को, साधकजीव को समय समय पर श्रद्धा का पुट लगता है। उन्होंने 'पुट' शब्द का प्रयोग किया है। यह वैद्य (आयुर्वेद) की भाषा है। जैसे पुट देते हैं - सहस्रपुटी अभ्रक भस्म। उसे एक बार अग्नि से गर्म किया, भस्म हो गयी, फिर से उस भस्म को उतना ही गर्म किया, उतनी ही DEGREE से दूसरा पुट दिया, फिर से (दिया, ऐसे) हजार बार उसे पुट दिया। परमाणु वह के वही है, परन्तु शक्ति बढ़ गयी। इस तरह जैसे परमाणु से शक्ति को बाहर लाने के लिए पुट दिया जाता है; इसी प्रकार 'मैं ऐसा हूँ' - ऐसे श्रद्धा पुट देती है। इस प्रकार जैसे जैसे अनन्त गुणा स्वरूप की ओर खिंचता है, वैसे विकास पाता है। जैसे जैसे अनन्तगुणा परद्रव्य की तरफ खिंचता

है, वैसे क्षीण होता जाता है। ऐसे अन्तर की ओर खिंचता है, वैसे वह विकास पाता जाता है और इस सबके (मूल में) पुरुषार्थ है। श्रद्धा का पुट लगता है - 'दिपचंदजी' ऐसा कहते हैं। यह भी उनकी अनुभव की भाषा निकली है। उसे ज्ञानी की लीनता का पुरुषार्थ कहते हैं अथवा पुरुषार्थ में वृद्धि की है - ऐसा भी कहते हैं, परन्तु वह पर्याय का कार्य पर्याय में है; मैं उसे मुख्य नहीं करूँगा - ऐसा कहते हैं। भले ही पुरुषार्थ की वृद्धि हुई, भले ही लीनता हुई; पर्याय का कार्य पर्याय में है।

'मेरापन, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य में है...' मेरी श्रद्धा तो ऐसा पुकारती है। यदि अपने सम्यग्दर्शन को वाचा दूँ तो सम्यग्दर्शन ऐसा बोलेगा कि मेरापना और मेरा अस्तित्वपना और मेरा व्यापकपना तो त्रिकाल ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य है, उतने में ही है, इससे बाहर जरा भी नहीं और इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहजस्वभाव है। पर्याय में पुरुषार्थ होता है या बढ़ जाता है, वह तो सहज स्वभाव है, उसमें कुछ करने का नहीं है। वह तो सहज ही है। करने-फिरने का नहीं है। पुरुषार्थ करना, यह प्रश्न ही नहीं है, ज्ञानी को पुरुषार्थ करना - यह प्रश्न ही नहीं है। पुरुषार्थ चल ही रहा है और वह सहज हो ही रहा है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी को पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है और अज्ञानी को समझ करना है, उसे पुरुषार्थ की जरूरत नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पुरुषार्थ कर्ताभाव से करने की जरूरत है ही नहीं और यदि कर्ताभाव से पुरुषार्थ करने की बात होवे तो पर्याय की क्रमबद्धता का पुरुषार्थ टूट जाता है। सिद्धान्त कहीं भी नहीं टूटना चाहिए, एक भी सिद्धान्त टूटना ही नहीं चाहिए; समस्त सिद्धान्त अखण्ड रहे, उसका नाम ज्ञान है। कही सिद्धान्त टूटे, उसका नाम अज्ञान है, दूसरा कुछ नहीं, कहीं सिद्धान्त नहीं टूटे।

मुमुक्षु :- दोनों और से लकड़ी मारते हो।

पूज्य भाईश्री :- कुम्हार, मटका घड़ता है, तब दोनों और से टीपे बिना मटका घड़ा ही नहीं जा सकता,

उसे टीपने की विशिष्ट लकड़ी आती है और उसका सहज गोलाईवाला आकार आता है, (वह) सीधी नहीं आती। टप, टप, टप, टप वह टीपे, उपर से टीपता है और अन्दर से टीपता है, तब उसका घाट आता है, क्योंकि ऊपर से टीपने पर जरा अन्दर जाए और अन्दर से टीपने पर ऊपर जाए, तब जितना उपर गया हो और जितना अन्दर गया हो उसे दूसरी ओर से ही धक्का मारना पड़ता है और तभी उसका LEVEL बराबर आता है। इसी प्रकार LEVEL लाना है, BALANCE रखना है, समतुला रखनी ही पड़ती है। यह तो प्रत्येक तरफ दोनों ओर रखनी ही पड़ती है। तुम्हारी दुकान पर ग्राहक आवे और लागत मूल्य से कम पर मोल माँगे तो तुम क्रोधित हो तो काम आयेगा ? ग्राहक है, भाई ! तुम्हें क्या समाधान करना पड़ता है ? ग्राहक है, वह तो मुफ्त में भी मांगेगा। यह तो थोड़े पैसे-भाव बोलता है, वरना ऐसा कहेगा कि मुफ्त में दे दो।

एक दृष्टांत देते हैं कि एक वस्तु इस प्रकार मुफ्त में दी जाती थी, तो कहे नहीं, अब उठाने के पैसे दो, ग्राहक ऐसा कहे। क्या कहे ? इसे ले जाने की मजदूरी के पैसे दो। ऑयलमिल की छिलकों(के) अभी तो पैसे पैदा होते हैं, परन्तु एक जमाने में पैसे पैदा नहीं होते थे, उसका इतना उपयोग नहीं था। अब उसका उपयोग होने लगा, जानवरों की खान में। इनका उपयोग (नहीं था), उन लोगो के लिए फैंक देने की चीज थी, अतः क्या करें, जगह भी बहुत रोकते हैं। छिलके तो जगह बहुत रोकते हैं। पोली चीज है (इसलिए) बड़ा ढेर होता है। तो कहें पशुओं को खिलाने के लिए मुफ्त में ले जाओ, जिसे चाहिए हो वे, तब गाड़ीवाला ऐसा कहे कि ले जाने के पैसे दो तो ले जाएँ, वरना नहीं ले जाएँगे। दुनिया का यह रिवाज है कि जरूरत अनुसार ही भाव होता है। लेनेवाले की गरज होवे तो भाव बढ़ता है, बेचनेवाले की गरज होवे तो भाव घटता है। यह बढ़ने-घटने की नीति है अथवा स्वाभाविक-प्राकृतिक है।

इसलिए यहाँ तो जब व्यापार में भी तुम्हें दोनों ओर संभालना पड़ता है कि ग्राहक को जाने नहीं देना और ग्राहक को बुरा लगाना नहीं। उसे खराब नहीं

लगाना चाहिए और तुम्हारे भाव से फिर तुम्हें व्यापार कर लेना है तो तुम दोनों ओर से कैसी चालाकी का प्रयोग करते हो या नहीं ? और प्रयोग करने न आवे तो क्या कहते है ? कि इसे व्यापार करना नहीं आता। ग्राहक भाग जाता है। यह ग्राहक को सम्भाल नहीं सकता। एक व्यापार करने में भी तुम्हें दो तरफ चलना पड़ता है। भोजन में भी तुम्हें दो तरफ चलना पड़ता है। 'सालमपाक' होवे तो कहीं एक किलो नहीं खा लिया जाता। वैद्य ऐसा कहे कि भाई ! तुम्हें यह प्रतिदिन एक-दो चम्मच लेना है। क्या कहे ? इसमें हजम करने के लिए ऐसे सब मसाले डाले हैं कि तुम्हें इसमें से प्रतिदिन सुबह दो चम्मच लेना है। प्रतिदिन सर्दी में दो चम्मच खा लेना, शक्ति आयेगी। इसके बदले आती है इसलिए किलो खा जाए तो ? यह तो दोनों ओर चलना ही पड़ेगा।

मुमुक्षु :- दांत से चबाते समय जीभ को संभालना पड़ता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, दांत से चबाते समय जीभ को संभालना पड़ता है। भोजन फिराना है और जीभ को दांत के बीच में आना नहीं है। यह तो दोनों ओर से संभालना ही पड़ता है। खाने में प्रमाणानुसार खाना, अधिक नहीं खाना और कम भी नहीं खाना; दोनों ओर चलना ही पड़ता है - ऐसा है। यह तो प्रत्येक कार्य की यही मर्यादा है, इसलिए तो अनेकान्तवाद कहा है, जिनवाणी को अनेकान्तवाद कहा है। उसमें सर्वत्र अपेक्षा है, सापेक्षपना है। पुत्र, एकान्त पुत्र नहीं है। कोई भी सम्बन्ध एकान्त सम्बन्ध नहीं है, ऐसा है। पुत्र, फिर किसी का पिता होता है, एकान्त से कोई किसी का पुत्र नहीं होता। वस्तुस्थिति है। अनेकान्तवाद अथपि वह तो वस्तुस्थिति ही है।

डायबिटीस होती है या नहीं ? शक्कर नहीं खाना है - तो ऐसा कि शक्कर (सुगर) घट भी नहीं जाना चाहिए। जेब में पीपरमेन्ट और शक्कर रखकर घूमना। यदि घट जाएगी न तो उल्टा जोखिम बड़ेगा। SUGAR बढ़ने की अपेक्षा SUGAR घटने की जोखिम अधिक है; तुरन्त ही चक्कर आते है, व्यक्ति नीचे गिर जाता है। BLOOD PRESSURE घट जाए तब तुम्हें ऐसा लगता

है कि कुछ दूसरा असर हुआ है, इसलिए सीधे शक्कर की गोली मुँह में डाल लेना। उस समय तुम्हें शक्कर बढ़ानी चाहिए। तुम्हें दोनों तरफ ACTION लेना ही पड़ेगा - यह नियम है। किसी दिन एक तरफ का ACTION चलता ही नहीं।

घर में मुख्य व्यक्ति की चलती हो, तुम्हारे घर में तुम्हारी चलती हो, एकान्त से नहीं चलती, हों ! कभी पुत्र की भी रखनी पड़ती है, पाँच वर्ष का होवे उसकी। उसकी भी रखनी पड़ती है और कभी पत्नी की भी रखनी पड़ती है, कहीं पुत्री की भी रखनी पड़ती है, कहीं माँ-पिताजी की भी रखनी पड़ती है; सब की रखनी पड़ती है, एकान्त से किसी की नहीं चलती। यह संसार ही किसी दिन नहीं चलेगा। तलाक लेने का ही अवसर आयेगा, दूसरा कुछ नहीं होगा। पत्नी का पति होवे तो भी एकान्तः नहीं चलती। यह एक वास्तविकता है, परिणामन की यह एक वास्तविकता है। सभी क्षेत्रों में इकतरफा नहीं चलती।

दृष्टि भले ही त्रिकाली को स्वीकार करती है, तथापि ज्ञान में ऐसा नहीं चलता। वहाँ साधकदशा का विवेक करना पड़ता है। यथास्थान में राग आना चाहिए, यथास्थान में द्वेष होना चाहिए राग नहीं। 'गुरुदेव' का ७२३ वाँ वचनमृत है न ? कोई धर्म पर, कोई धर्मात्मा पर उपसर्ग करता होवे, अन्दर में भय होवे, परन्तु बाहर में ऐसा दिखाये कि भाई ! अपने मध्यस्थ रहो, हमने झगड़ा करने जाएंगे तो हमें परिणाम में अशान्ति हो जाएगी, उसकी अपेक्षा मध्यस्थ रहे तो परिणाम में शान्ति तो रहेगी - यह धोखेबाजी है, स्वयं को ठगता है। लिया है - 'गुरुदेव' ने तो सारे पहलू स्पष्ट किये हैं न ?

मुमुक्षु :- भयवाले को शान्ति कहां से होवे, वह खोजे तो उसे पता चल जाए।

पूज्य भाईश्री :- उसे अशान्ति होती है, परन्तु उसे उस समय वह आडम्बर प्रदर्शन करना पड़ता है कि मैं तो मध्यस्थ हूँ, मुझे तो शान्ति रखना है, मुझे किसी अशान्ति में पड़ना ही नहीं है; झगड़े की बातें हैं, अशान्ति हो जाएगी, इसमें ऐसा हो जाएगा, वैसा हो जाएगा। मूल में अन्दर में भय है। 'गुरुदेव' तो

कहते हैं नहीं ! धर्मात्मा होवे तो भी तलवार निकालता है। क्या कहा ? धर्मात्मा होवे तो भी तलवार खींचता है। ऐसा नहीं चलता है। बहुत बातें कर गये हैं।

मुमुक्षु :- उस समय ख्याल है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का नहीं करता।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, तब भी ख्याल है, तथापि तलवार निकालता है - ऐसा है। बहुत कड़क दृष्टांत दिया है। यह बात करते समय इतना अधिक कड़क (दृष्टांत) दिया है कि तेरी माँ पर कोई आरोप करे तो फिर तू वहाँ मध्यस्थ हो जाता है ? शांति रखते हो ? स्वयं ऐसा दृष्टांत दिया है। 'गुरुदेव'की भाषा तो जोरदार है न ! ऐसा दृष्टान्त दिया है। दृष्टान्त दिया है, यह सहन नहीं करता। (यदि) कोई उसकी माँ पर कीचड़ उछाले तो वह सहन नहीं करता। एसी जिनवाणी है, धर्मात्मा है, धर्म है, धर्मायतन है - उन पर कुछ भी होवे तो बैठा नहीं रहे और यदि बैठा रहे तो समझना कि मध्यस्थी नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि है। स्वयं JUDGE-MENT दिया है।

यह सब ज्ञान का विवेक करने का काम है। श्रद्धा कहीं स्पर्श करती नहीं। श्रद्धा न तो राग को स्पर्श करती है, न तो द्वेष को स्पर्श करती है, नहीं शुद्धपर्याय को स्पर्श करती है वह राग-द्वेष को स्पर्श इसलिए नहीं करती कि वह शुद्धपर्याय को साथ में स्पर्श नहीं करती। जब ज्ञान शुद्धपर्याय को स्पर्श करता है तो उसके प्रमाण में राग-द्वेष का विवेक भी करता है कि यथास्थान में राग-द्वेष (होते हैं।) भूमिकानुसार का प्रकार होना ही चाहिए; न हो तो उसकी वह भूमिका नहीं हो सकती।

इसलिए तो व्यवहार रखा है न ! मुमुक्षु की भूमिका में मुमुक्षु का व्यवहार न होवे तो वह मुमुक्षु नहीं है। ज्ञानी की भूमिका में ज्ञानी का व्यवहार न होवे तो वह ज्ञानी नहीं है। मुनि की भूमिका में मुनि का व्यवहार न होवे तो वह मुनि नहीं है। इसीलिए तो वह रखा है। वह कोई व्यर्थ की फालतु बात नहीं है। व्यवहार की बात इसलिए ही है। उस भूमिका में वह होना ही आवश्यक है।

**‘मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकता**



तो त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य में है - इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहज स्वभाव है। पर्याय अपेक्षा से पुरुषार्थ हुआ।' पर्याय अपेक्षा 'वृद्धि हुई, उसे पुरुषार्थ किया अथवा वृद्धि की - ऐसा कहते हैं।' यह तो वचन व्यवहार है, यह तो सहज होता है। 'यथार्थ में तो उक्त अस्तित्वपने की अखण्ड दृष्टि के बल पर... यथार्थ में तो उक्त अस्तित्वपने की अखण्ड दृष्टि के बल पर..' देखा ! दृष्टि का विषय - अस्तित्वपना है, उसके बल पर 'पर्यायों का क्रम सहज ही अखण्ड की ओर बढ़ता रहता है।' अनन्त गुणों की पर्यायों का क्रम अखण्ड की ओर बढ़ता ही जाता है। अकेला पुरुषार्थ नहीं बढ़ता, ज्ञान भी बढ़ता है, चारित्र्य भी बढ़ता है, शान्ति भी बढ़ती है; सभी गुण बढ़ते हैं।

'पुरुषार्थ आदि की...' अर्थात् सभी गुण ले लेना। 'पुरुषार्थ आदि की इन पर्यायों में कोई

उलटफेर करना नहीं पड़ता...' मैं इसे बढ़ाऊँ, इसे घटाऊँ, कम करूँ, उसे कुछ करना ही नहीं पड़ता। कारण ? क्यों नहीं करना पड़ता ? 'कारण कि पर्याय में तो मेरा - दृष्टि के विषय का अस्तित्व अस्तित्व ही नहीं है - न !' जैसे परद्रव्य में मेरा अस्तित्व नहीं है, इसलिए मैं वहाँ कुछ नहीं कर सकता; तो पर्याय में मेरा अस्तित्व नहीं है; इसलिए मैं कुछ नहीं कर सकता। जाओ ! मुझे कुछ करना नहीं है, सहज होगा। ऐसे दृष्टि के बल पर वह सहज होता है। यह यथार्थ विधि का विषय है। 'पर्याय में तो मेरा - दृष्टि के विषय का - अस्तित्व ही नहीं है कि 'मैं' उसमें कुछ कर सकूँ ! मेरा अस्तित्व तो त्रिकाली पन में हैं। आशा है मेरा दृष्टिकोण में व्यक्त कर सका हूँ।' मुझे ऐसी आशा है कि यह मैं मेरा दृष्टिकोण व्यक्त कर सका हूँ।

### पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी का जन्मजयंति महोत्सव आनंदउल्लासपूर्वक संपन्न

भावी तिर्थाधिनाथ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके महापुराण के पात्र पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी का १०१ वां जन्ममहोत्सव दि.३०-४-१२ से २-५-२०१२ पर्यंत सुवर्णपुरी तीर्थधामस्थित 'गुरु-गौरव' स्मारक भवन में अत्यंत आनंदपूर्वक मनाया गया। इस प्रसंग पर बहारगांव से अनेक मुमुक्षु भाई-बहनने पधार कर त्रीदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम का लाभ लिया।

दि.२-५-२०१२ के दिन श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के धारावाही प्रवचन 'गुरु-गीरा गौरव' भाग-२ (हिन्दी) की अर्पणविधि की गई। तत्पश्चात पारणाञ्जलन, जन्म वधामणा, भक्ति आदि कार्यक्रम हुए।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जून-२०१२) का शुल्क श्री इलाबहन दिनेशभाई छेडा, सारिकाबहन निहार, एक मुमुक्षु, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- विशेषका खयाल तो आता है परन्तु सामान्यका नहीं आता। विशेषके आधारसे लगता है कि सामान्य ऐसा होना चाहिये। तो क्या यह ठीक है ?

समाधान :- सामान्यका खयाल आता है और विशेषका भी आता है। सामान्य-विशेष स्वयं वस्तु ही तो है। इसलिये दोनोंका खयाल आता है। विशेष अनुभवमें आता है, परन्तु उससे सामान्यका ज्ञान नहीं होता ऐसा नहीं है। सामान्य-विशेष दोनों खयालमें आते हैं।

विशेषपरसे सामान्य खयालमें आये इसलिये सामान्य खयालमें ही नहीं आता ऐसा नहीं है। स्वयं नहीं जानता इसलिये प्रथम विशेषके आधारसे गुण-गुणीके भेद करके समझाया जाता है, परन्तु जब विकल्प छूट जाते हैं और स्वयं अपनेको जानता है उसमें सामान्य-विशेष दोनों खयालमें आ जाते हैं। उसमें कहीं ऐसा नहीं रहता कि विशेष पहले खयालमें आये और सामान्य बादमें; उलटा सामान्य उसे मुख्य हो जाता है। सामान्यपर दृष्टि जानेसे वह मुख्य हो जाता है और ज्ञान उपयोगात्मक होकर स्वयं अपने सामान्य तथा विशेष-दोनोंको जानता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२८३)



प्रश्न :- वर्ण गुण दिखाई नहीं देता परन्तु उसकी लाल-पीली पर्यायसे उसका खयाल आता है। तो क्या पर्याय अथवा गुणभेदके द्वारा द्रव्यस्वभावका खयाल आता होगा ?

समाधान :- जो नहीं जानता उसे पर्यायसे सामान्यका ज्ञान कराया जाता है, परन्तु उससे सामान्य सीधा खयालमें न आये ऐसा नहीं है। सामान्य सामान्यसे खयालमें आता है। जैसे वर्णसे पुद्गल ज्ञात होता है, वैसे ही विशेषके ज्ञानसे आत्माका खयाल करानेपर वह सीधा जाननेमें न आये ऐसा नहीं है। प्रथम उसे अनुमान ज्ञान होता

है इसलिये विशेषसे सामान्यका खयाल कराते हैं; परन्तु जहाँ सामान्यपर दृष्टि गई वहाँ सामान्य सामान्यसे ज्ञात होता है, स्वयं अपने अस्तित्वसे ज्ञात होता है। सामान्यस्वरूप स्वयं अपनेमें अस्तित्वरूप है, नास्तिरूप नहीं है; इसलिये स्वयं अपने अस्तित्वसे अभेदरूप ज्ञात होता है। स्वयं चैतन्य है, इसलिये स्वयं अपने सामान्यस्वरूपको जानता है। विशेषसे सामान्यको जाननेपर लक्षण-लक्ष्यका भेद पड़ता है; फिर भी ज्ञानी सामान्यस्वरूपको स्वयं अपनेसे जानता है कि यह मैं हूँ, यह मैं चैतन्य हूँ, -ऐसे स्वयं गुणके भेद किये बिना, अभेद स्वरूपसे श्रद्धा करता है और ज्ञानमें जानता है। जैसे प्रत्यक्ष केवलज्ञान हो वह सीधा सामान्यको जानता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी सामान्यको स्वयं अपने अनुभवमें जानता है; मैं अस्तिस्वरूप हूँ ऐसा जानता है। सामान्य ज्ञात न हो ऐसा नहीं है, अपने अस्तित्वसे अपनेको जाननेमें आता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२८४)



प्रश्न :- विचार और ध्यानमें क्या अन्तर है ?  
समाधान :- आत्माके विचार हैं वह ज्ञानकी पर्याय है। द्रव्य कैसा है? गुण कैसे हैं?—ऐसे विचारमें अनेक भेद पड़ते हैं। और ध्यान अर्थात् एकाग्रता, आत्मामें एकाग्र होना। एक अग्र आत्माको लक्ष्यमें लेकर-मूल वस्तुको ग्रहण करके-उसमें एकाग्रता करनी उसका नाम ध्यान है।

विचारमें तो अनेक प्रकारके भेद पड़ते हैं-गुणभेद, पर्यायभेद आदि सबके विचार आते हैं; परन्तु ध्यानमें तो आत्माको लक्ष्यमें लेकर, परसे तथा विभावसे जुदा एवं क्षणिक पर्याय जितना भी मैं नहीं—ऐसे भेदज्ञान करके, बस एक चैतन्यमें लीनता-एकाग्रता करता है। भेदज्ञान करके उसमें एकाग्रता करनी वह ध्यानका लक्षण है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२८५)



परम स्नेही श्री सोभाग,

कल आपका लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँसे परसों एक पत्र लिखा है वह आपको प्राप्त हुआ होगा। तथा उस पत्रका पुनः पुनः विचार किया होगा, अथवा विशेष विचार कर सकें तो अच्छा।

वह पत्र हमने संक्षेपमें लिखा था, इससे शायद आपके चित्तके समाधानका पर्याप्त कारण न हो, इसलिये उसमें अंतमें लिखा था कि यह पत्र अधूरा है, जिससे बाकी लिखना अगले दिन होगा।

अगले दिन अर्थात् पिछले दिन यह पत्र लिखनेकी कुछ इच्छा होनेपर भी अगले दिन अर्थात् आज लिखना ठीक है, ऐसा लगनेसे पिछले दिन पत्र नहीं लिखा था।

परसों लिखे हुए पत्रमें जो गंभीर आशय लिखे हैं, वे विचारवान जीवके आत्माको परम हितैषी हों, ऐसे आशय हैं। हमने आपको यह उपदेश कई बार सहज सहज किया है, फिर भी आजीविकाके कष्टक्लेशसे आपने उस उपदेशका कई बार विसर्जन किया है, अथवा हो जाता है। हमारे प्रति माँ-बाप जितना आपका भक्तिभाव है, इसलिये लिखनेमें बाधा नहीं है, ऐसा मानकर तथा दुःख सहन करनेकी असमर्थताके कारण हमसे वैसे व्यवहारकी याचना आप द्वारा दो प्रकारसे हुई है-एक तो किसी सिद्धियोगसे दुःख मिटाया जा सके ऐसे आशयकी, और दूसरी याचना किसी व्यापार रोजगार आदिकी। आपकी दोनों याचनाओंमेंसे एक भी हमारे पास की जाय, यह आपके आत्माके हितके कारणको रोकनेवाला, और अनुक्रमसे मलिन वासनाका हेतु है; क्योंकि जिस भूमिकामें जो उचित नहीं हैं, उसे वह जीव करे तो उस भूमिकाका उसके द्वारा सहजमें त्याग हो जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। आपकी हमारे प्रति निष्काम भक्ति होनी चाहिये, और आपको चाहे जितना दुःख हो, फिर भी उसे धीरतासे भोगना चाहिये। वैसा न हो सके तो भी हमें तो उसकी सूचनाका एक अक्षर भी नहीं लिखना चाहिये; यह आपके लिये सर्वांग योग्य है; और आपको वैसी ही स्थितिमें देखनेकी जितनी मेरी इच्छा है, और उस स्थितिमें जितना आपका हित है, वह पत्र से या वचनसे हमसे बताया नहीं जा सकता। परंतु पूर्वके किसी वैसे ही उदयके कारण आपको वह बात विस्मृत हो गयी है, जिससे हमें फिर सूचित करनेकी इच्छा रहा करती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओंमें प्रथम विदित की हुई याचना तो किसी भी निकटभवीको करनी योग्य ही नहीं है, और अल्पमात्र हो तो भी उसका मूलसे छेदन करना उचित है; क्योंकि लोकोत्तर मिथ्यात्वका वह सबल बीज है, ऐसा तीर्थकरादिका निश्चय है, वह हमें तो सप्रमाण लगता है। दूसरी याचना भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि वह भी हमें परिश्रमका हेतु है। हमें व्यवहारका परिश्रम देकर व्यवहार निभाना, यह इस जीवकी सद्वृत्तिका बहुत ही अल्पत्व बताता है; क्योंकि हमारे लिये परिश्रम उठाकर आपको व्यवहार चला लेना पड़ता हो तो वह आपके लिये हितकारी है, और हमारे लिये वैसे दुष्ट निमित्तका कारण नहीं है, ऐसी स्थिति होनेपर भी हमारे चित्तमें ऐसा विचार रहता है कि जब तक हमें परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार उदयमें हो तब तक स्वयं उस कार्यको करना, अथवा व्यावहारिक संबंधी आदि द्वारा करना, परंतु मुमुक्षु पुरुषको तत्संबंधी परिश्रम देकर तो नहीं करना; क्योंकि वैसे कारण से जीवकी मलिन वासनाका उद्भव होना संभव है। कदाचित् हमारा चित्त शुद्ध ही रहे ऐसा है, तथापि काल ऐसा है कि यदि हम उस शुद्धिको द्रव्यसे भी रखें तो सन्मुख जीवमें विषमता उत्पन्न न हो, और अशुद्ध वृत्तिवान जीव भी तदनुसार व्यवहार कर परम पुरुषोंके



(शेष अंश पृष्ठ संख्या-११ पर)